

**TEXT PROBLEM
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180075

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—901—26-3-70—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. 8H.6

Accession No. 2841

Author B16H

Title ERZIN, G. K. 536.

1950
This book should be returned on or before the date last marked below.

कुछ हमारी भाँ

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी हिंदी-साहित्य के सुपरिचित और प्रसिद्ध लेखक हैं। स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के अवकाश ग्रहण करने पर आपने 'सरस्वती' का सम्पादन करके जैसी कीर्ति प्राप्त की और जैसी योग्यता दिखलायी उसे 'सरस्वती' के पाठक और हिंदी-साहित्य के प्रेमी भूले न होंगे। बख्शी जी की लेखनी गद्य में बहुविध शैलियों और नवीनतम प्रयोगों का चमत्कार तभी से दिखलाती आ रही हैं। साधारण से साधारण, रूखे से रूखे और अपरिचित से अपरिचित विषयों को लेकर जैसी रोचक, बोधगम्य और प्रभावपूर्ण रीति से आप उसका प्रतिपादन करते हैं वैसा हिन्दी के अन्य गद्य लेखकों में से किसी एक की रचना में नहीं दिखाई देता। बख्शी जी इस प्रकार कई गद्य-लेखकों का काम अकेले करते हैं। हिन्दी में जिस प्रकार के नूतन और समयानुकूल निबन्धों, किराकल्य तथा भाषा-वैभव की अपेक्षा है बख्शी जी उसी मार्ग का अवलंबन कर रहे हैं। हिंदी-साहित्य के जिज्ञासुओं और लेखकों के लिए बख्शी जी के ये निबन्ध कितने काम के और प्रेरक होंगे यह तो इस संग्रह के पढ़ने पर स्वतः किसी पाठक को ज्ञात हो जायगा। हम तो अपना परम सौभाग्य समझते हैं कि इस युग के सबसे क्रान्तिकारी लेखक की इस पुस्तक का प्रकाशन करने का अवसर हमें प्राप्त हो रहा है।

विषय-सूची

विषय	...	...	पृष्ठ
१. कथा-वस्तु	...	...	१
२. कला का विन्यास	...	...	१५
३. आलोक और तिमिर	...	...	३४
४. कल्पना और सत्य	...	...	४४
५. नरेन्द्र	...	...	८८
६. निशा-काल	...	...	१०१
७. वरदान	...	...	१२१
८. सत्य और झूठ	...	...	१५७
९. एक चरित्र	...	...	१६५
१०. दोष किसका	...	...	१७२
११. गोवर्द्धन मिश्र	...	...	१८२
१२. गुड़िया	...	...	१८९
१३. मोटर स्टैंडपर	...	...	२००
१४. दीपावली	...	...	२१०
१५. मेरे लिये	...	...	२१५
१६. यवनिका पतन	...	...	२४३
१७. पाँच अध्याय	...	...	२५९

कथा-वस्तु

कितने ही दिन पहले एक बंगला मासिक पत्र में मैंने पढ़ा था। एक दिन अपने आख्यायिका-लेखक पति को कथा-वस्तु के लिये चिन्तित देखकर उसकी स्त्री सावित्री ने मीठी हँसी सकर कहा—‘अच्छा, आज मैं तुम्हें कहानी का एक प्लोट तलाती हूँ। इतने दिनों तक तो तुमने अपने मन से लिखा है, आज मेरे पास से ही अपनी कहानी के लिये एक प्लोट ले लो।’

भारत अभी तक भाव के अपार पारावार में चक्कर खा रहा था। अपनी स्त्री की यह बात सुनकर उसने मानो अकूल में कूल पाया। वह बोला—‘तुमने मुझको बचा लिया। मैं तो अभी तक भटकता ही रहा। जरूर उसी को लिखूँगा।’

‘लिखोगे ?’

‘जरूर लिखूँगा।’

‘हँसोगे तो नहीं ?’

‘नहीं, नहीं हँसूँगा। तुम जल्दी कहो। मुझे मालूम हो रहा है कि तुम्हारा ही प्लोट ठीक होगा।’

सावित्री हँसकर बोली—‘अच्छा, कह रही हूँ, सुनो। हँसना मत। मेरा कहना है कि प्रत्यक्ष रूप से जो तुम पा चुके हो और अपने जीवन में जो तुम देख चुके हो, जान चुके हो, उसी को लेकर लिखने से तुम्हारी रचना सजीव होगी, तभी

तुम्हारी कहानी पूरी होगी। कल्पना के आवेश से तुम्हारे मन की अभी जो अवस्था है, उसमें भावों का विलास करने से काम नहीं चलेगा।'

भारत ने अधीर होकर कहा—'बह तो समझा, अब तुम प्लॉट बताओ। मैं कह रहा हूँ कि मेरा यह उत्साह घट जा' से फिर मुझ से कुछ नहीं लिखा जायगा।'

सावित्री फिर उठकर भारत के सामने की कुर्सी पर बैठ गई। दो-एक बार मेज के पैरों में पैर लगाकर उसने कुर्सी को हिलाया। उसके मुख पर एक सलज्ज हँसी थी। 'कहती हूँ, कहती हूँ'—कहकर भी उसके मुँह से बात नहीं निकलती थी।

भारत अधीर हो रहा था। उसने कहा—'और समय बर्बाद मत करो, कहो। तीन दिन में लिखकर न भेजने से फिर एक महीने तक बैठे रहना पड़ेगा। वे लोग कहानी पढ़ेंगे, चुनाव करेंगे, उसके बाद छपवायेंगे; फिर भाग्य अनुकूल हुआ, तो रुपये मिलेंगे।'

सावित्री जोर से हँस पड़ी। उसने कहा—'देखती हूँ आज तुमको बहुत जल्दी है।'

भारत ने कहा—'आज मेरा सुसमय आया है। आज कहानी हवा के आधार से दौड़ पड़ेगी। तुम प्लॉट तो कहो, फिर देखना मन के साथ हाथ की कलम कैसे नहीं चल सकेगी। यही कहानी लिखने की प्रधान चीज है; यही लिखने की इच्छा, यही व्याकुलता।'

सावित्री ने दुष्ट के समान हँस कर कहा—'अच्छा, अब कहूँ ?'

भारत ने अधीर होकर कहा—‘कहो, मैं तो कब से कहने के लिये कह रहा हूँ ।’

सावित्री बोली—‘तुम आँखें बन्द करो ।’

भारत ने विरक्त स्वर से कहा—‘कर ली ।’

सावित्री ने फिर कहा—‘बत्ती बुझा देती हूँ । मेरा कहना अमाप्त होने पर फिर जला दूँगी ।’

भारत के धैर्य की सोमा अब टूटने पर आ गई । कहा—‘बुझा दो ! बाप रे, बाप ! क्या-क्या कर रही हो एक साधारण प्लाट कहने के लिये ।’

सावित्री ने हँसकर कहा—‘तुम लोगों का प्लाट जैसे दक्षिण की हवा के आधार से आता है, वैसे उत्तर की हवा से झर जाता है । हम लोगों का प्लाट तो वैसा नहीं है । हम लोगों की जीवन-कहानी ही एक प्लाट है । वह हवा के आधार से नहीं आती और झरती भी नहीं । हम लोगों के समस्त अस्तित्व से वह जकड़ी हुई है । इसमें जैसा रंग लगाओ वैसी ही दिखेगी ।’

भारत ने बातें करना बन्द कर दिया । वह चुपचाप उसकी बातें सुनने लगा ।

सावित्री ने कहा—‘क्रोध मत करना । हम लोगों का यह छोटा-सा संसार ही है मेरी कहानी, मेरा प्लाट । हम लोगों की छोटी आशायें, हम लोगों के क्षुद्र दुःख-सुख की क्षुद्र भावनाएँ, इच्छाएँ, आकांक्षाएँ सभी इसी में नाचती हैं, रोती हैं और उड़ती हैं । पर इन्हीं के भीतर हम लोगों का यथार्थ

सुख है, यथार्थ गरिमा है। अभाव का कष्ट, चिन्ता की वेदना, प्रयास की विफलता, दीनता की ग्लानि इन सब के भीतर फूल की तरह जीवन का यथार्थ विकास होता है। तुम तो मिट्टी की धूल को देखते हो, कीचड़ को देखते हो, पर धूल और कीचड़ में रहकर भी स्नेह की जिस अक्षय ज्योति से और भावों के जिस मृदु अनिल से जीवन का यथार्थ फूल खिल उठता है, हँस पड़ता है, उस पर तुम्हारी दृष्टि नहीं जाती। मैं कहती हूँ कि तुम अपमान, ग्लानि और दुःख की ही बातें बढ़ाकर मत लिखो। हमारे जीवन के यथार्थ सुख की बातें भी लिखो।'

भारत तन्मय होकर सुन रहा था। अकस्मात् मेज पर हाथ पटक कर उसने कहा—'समझ लिया, और नहीं कहना होगा।'

सावित्री ने बाधा देकर कहा—'नहीं, तुमने नहीं समझा है।'

भारत जैसे दब गया, वह बोला—'अब देखना कि कहानी कितनी सुन्दर होती है।'

सावित्री ने सिर झुकाकर कहा—'एक बात और तुमसे कहना चाहती हूँ। तुम लोग कहानी लिखते हो; परन्तु उसको पढ़कर लोगों के मन में दुःख के प्रति ग्लानि का भाव ही उत्पन्न होता है; उसमें दुःख का गौरव नहीं रहता। यह ठोक है कि हम लोग अभाव, अनशन और विविध प्रकार की विपत्तियों से दुःख पाते हैं; परन्तु उसमें भी क्या हम लोगों के सुख के संसार की कामना नहीं रहती?'

भारत ने कहा—'कामना तो रहती है, परन्तु हम पाते क्या हैं?'

सावित्री ने कहा—‘उस कामना के भीतर जितना आनन्द है, क्या वही तुम्हारे—हमारे लिए कम है ? क्या हम लोगों की यह आशा नहीं होती कि एक दिन इतना सब अभाव चला जायगा, हमारी समस्त कल्पना सोने की लकड़ी के स्पर्श से एक दिन सोना हो जायगी ? क्या यह कम सुख की आशा है ? आशा फले या न फले, उससे कुछ नहीं आता जाता । आशा में जीते रहना ही हम लोगों का सौभाग्य है । उसको तुम लोग कटु मत बनाओ, उसे तुम लोग मनुष्य-हृदय से निर्मूल करने की चेष्टा मत करो ।’ कहते-कहते सावित्री की आँखें छलछल्ला उठीं, तो भी वह मन के आवेग से बोलने लगी—क्या हुआ, कष्ट है तो, क्या हुआ वेदना के भार से मनुष्य का हृदय टूटा जाता है तो ? तब भी मनुष्यों को आशा करने दो । उनके दुःखों की गरिमा को नष्ट मत करो । धन की लिप्सा में, स्वार्थ-संघर्ष की प्रतिहिंसा में पड़कर उनके दैन्य को वीभत्स बुभुक्षा में परिणत मत करो । उनके प्रेम की सेवा को, स्नेह के त्याग और सहनशीलता को, ममता के कष्ट को, अभाव की तपस्या को और दैन्य की मधुरता को असन्तोष, अशांति और उन्माद के विष से ग्लानिकर और भीषण मत बनाओ । तभी जानोगे कि इतने दुःखों का भी शायद अन्त है, सीमा है और शायद उनका भी कोई लक्ष्य है ।

सावित्री ने अपने आख्यायिका—लेखक पति से जो कुछ कहा, उसको उन्होंने स्वीकार किया या नहीं, इस पर अभी हमें विचार नहीं करना है, परन्तु यह सच है कि यह बात हिंदी के अधिकांश आख्यायिका—लेखकों के लिए विचारणीय है ।

आख्यायिका में केवल समाज का चित्र नहीं रहता, उसमें एक व्यक्ति के जीवन की झलक भी रहती है। समाज में रहकर भी व्यक्ति का अपना एक पृथक् अस्तित्व रहता है। यह सच है कि संसार परिवर्तनशील है। भिन्न-भिन्न आदर्शों का निर्माण होता है। युग के अनुसार हम लोगों की रीति बदलती है और नीति भी परिवर्तित होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि जो लोग काल की गति के साथ नहीं चल सकते, वे आप-से-आप नष्ट हो जाते हैं। जिसमें क्षमता रहती है, वही जीवन-संग्राम में अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकता है। वर्तमान युग में जीवन के सभी क्षेत्रों में जो एक क्रान्ति आ गई है, उसने सभी के जीवन में एक अव्यवस्था ला दी है। संसार में दैन्य, दुर्भिक्ष और अभाव की एक ऐसी विभीषिका आ गई है कि लोगों में शान्ति और सन्तोष की भावना अब नहीं रह गई है। सर्वत्र अर्थ की समस्या उग्र हो गई है। इसी के कारण अभी मानव-जीवन में कितने ही प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं और होंगे।

विचारणीय यह है कि इन परिवर्तनों के भीतर क्या सत्य का कोई चिरन्तन रूप नहीं है ? आज जो दोष समझे जाते हैं, वे क्या कभी जीवन के विकास के लिए सुधार के रूप में स्वीकृत नहीं हुए थे ? इसी प्रकार आज जो सुधार हो रहे हैं, वे क्या भविष्य में दोष के रूप में परिणत नहीं होंगे ? दोषों का अन्त नहीं है और न सुधारों का। पर विश्व के असीम जीवन में व्यक्ति का सीमावद्ध जीवन सभी प्रकार की प्रतिकूल और अनुकूल परिस्थितियों का अतिक्रमण कर अपने एक विशेष पथ

पर अग्रसर होता है। उसका अपना पतन होता है और उत्थान भी। उसके अन्तर्जीवन में एक द्वन्द्व होता है, एक संघर्ष होता है।

हम लोगों के जीवन में कभी ज्ञान की प्रबलता होती है और कभी भाव की। हम लोगों में जो कर्म-शक्ति है वह इन्हीं दो में से किसी एक से प्रेरित होती है। यह सच है कि कर्म की शक्ति प्रचण्ड हो जाने पर उसमें ज्ञान अथवा भाव की प्रबलता दृष्टिगोचर नहीं होती। उस समय यही जान पड़ता है कि एकमात्र शक्ति ही हम लोगों के लिए आराध्य है। उसी के द्वारा हम लोग अपने जीवन में सच्ची सफलता प्राप्त कर सकते हैं। उस कर्म-शक्ति को उत्तेजित करने के लिये ज्ञान अथवा भावों की जितनी आवश्यकता होती है, उतनी ही मात्रा में उनका उपयोग होता है। जिस ज्ञान के द्वारा हम लोगों की कर्म-शक्ति में वृद्धि नहीं होती, वह व्यर्थ समझा जाता है। इसी प्रकार जिस भाव के द्वारा कर्म-शक्ति में क्षिप्रता नहीं आती, वह निस्सार हो जाता है। साहित्य में इसीलिये हम जहाँ एक ओर ज्ञान की धारा देखते हैं, वहाँ दूसरी ओर आनंद की धारा पाते हैं।

इन दोनों के बीच में साहित्य का और दूसरा स्वरूप लक्षित होता है, जो सामयिक कहा जा सकता है, जिसमें काल के अनुरूप, देश की आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार रचनाएँ होती हैं। इस साहित्य के द्वारा कर्म-शक्ति में क्षिप्रता आती है। लोगों में उसी ज्ञान का प्रचार किया जाता है और

उसी का विस्तार किया जाता है, जिसके द्वारा देश या समाज की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। यह साहित्य हम लोगों के जीवन की तरह परिवर्तनशील होता है। जिस प्रकार हम लोगों के जीवन की गति परिवर्तित होती रहती है, उसी प्रकार इस साहित्य की गति भी बदलती रहती है। उसमें भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का कभी विरोध होता है और कभी समर्थन। उसमें आलोचना होती है, परीक्षा होती है, विचार होता है, चिन्तन होता है। यह बात नहीं कि इसके द्वारा ज्ञान अथवा आनन्द की कुछ भी वृद्धि नहीं होती। उनसे ज्ञान का प्रचार अवश्य होता है। उनसे हम लोगों की मानसिक तृप्ति होती है। हमें आनन्द भी होता है। परन्तु यह सच है कि इस साहित्य में स्थायित्व नहीं रहता।

जो साहित्य स्थायी होता है, उसमें या तो ज्ञान का विशुद्ध रूप रहता है या आनन्द का विशुद्ध भाव रहता है। दोनों में देश और काल से अतीत एक विशुद्ध भाव की सृष्टि होती है। किसी विशेष देश, विशेष समाज या विशेष परिस्थिति में उनकी उपयोगिता नहीं रहती। सच तो यह है कि उनमें उपयोगिता ही नहीं रहती। वे उपयोगिता को अतिक्रमण कर अपने ही भीतर एक पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। उनका ज्ञान चिरन्तन है, उनका आनन्द चिरन्तन है। जिन ग्रंथों में सत्य का चिरन्तन भाव रहता है, वे ही विश्व-साहित्य के अक्षय रत्न कहे जा सकते हैं।

साहित्य का जो व्यापक रूप है, उसमें ज्ञान, कर्म और भाव इन तीनों रूपों का समावेश होता है। प्रतिवर्ष हम लोग पुस्तकों

की जो गगनस्पर्शी राशि देखते हैं, उनमें साहित्य का कोई न कोई रूप विद्यमान रहता है। परन्तु मेरे लिए सबसे अधिक स्पृहणीय साहित्य का वही रूप है, जो एकमात्र आनन्द की सृष्टि है; जिसमें न तो कष्ट का अभाव है, और न श्रम की कठोरता। इस साहित्य में हम लोगों के सभी भाव आनन्द का रूप ग्रहण कर लेते हैं। प्रेम और तिरस्कार, क्रोध और विद्वेष, घृणा और भय सभी रस के रूप में परिणत हो जाते हैं। कैसी भी वेदना क्यों न हो, कैसा भी वीभत्स दृश्य क्यों न हो, कैसी भी भयावह बात क्यों न हो, उन सभी के द्वारा हम लोग एक विशेष आनन्द की उपलब्ध करते हैं। वही तो रस है। वही इस साहित्य का प्राण है। उसी के कारण यह साहित्य सदैव हृदयग्राही बना रहता है। आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के जिन नौ रसों की सृष्टि की है, उनमें आनन्द की यही विशुद्ध अनुभूति काम कर रही है। जीवन के भीतर ऐसा एक भी भाव नहीं है, जो रस के रूप में परिणत न किया जा सके।

मैं तो कथा-साहित्य का एक प्रेमी पाठक हूँ। परन्तु महाकाव्य, नाटक और उपन्यासों में शैली की चाहे जो अपूर्वता हो और उस अपूर्व शैली के कारण चाहे जिसका स्थान उच्च हो, यह बात बिल्कुल सच है कि जिसमें इस रस की जितनी अधिक सृष्टि होती है, आनन्द की जितनी अधिक अनुभूति होती है, हम उसमें जितने अधिक लीन हो जाते हैं, आत्मविस्मृत हो जाते हैं, संसार की आवश्यकताओं को भूल जाते हैं, वही सचमुच स्पृहणीय वस्तु है और उसी में महाकाव्य,

नाटक, उपन्यास, आख्यायिका या किसी कविता का यथार्थ गौरव है।

कथा-साहित्य में जीवन का चित्रण रहता है। उससे हम अपने जीवन की छोटी-बड़ी सभी बातें पाते हैं। परन्तु उसमें जीवन का निष्प्राण चित्र नहीं होता। उसमें जीवन की छोटी-से-छोटी बात भी रस में परिणत हो जाती है। अधिकांश लोगों की यह धारणा है कि कल्पना की सृष्टि होने के कारण कथा-साहित्य में सत्य का अभाव रहता है। कल्पना के द्वारा लेखक कथाओं में एक से एक ऐसी विलक्षण परिस्थिति का वर्णन करते हैं, जो संसार में सम्भव ही नहीं। ऐसी असम्भव बातों के वर्णन से विरक्ति होती है, आनन्द नहीं। अतएव ऐसी कथाओं को साहित्य में कोई गौरवपूर्ण स्थान नहीं मिलता।

परन्तु हम लोग एक बात भूल जाते हैं, वह यह कि हम लोगों में जो कौतूहल का भाव है, उसके कारण रहस्यमयी बातों से जितना अधिक हमें आनन्द होता है, उतनी अनुभूति और परिचित बातों से नहीं। जीवन स्वयं रहस्यमय है। विभिन्न लोगों के विभिन्न भावों के घात-प्रतिघात के कारण सभी लोगों के जीवन में जो एक विभिन्नता रहती है, उसी के कारण मनुष्यों का जीवन रहस्यमय हो जाता है। तभी तो हम लोग दूसरों के सम्बन्ध में जानने के लिए उत्सुक रहते हैं—तभी तो कथा-साहित्य में कौतूहलवर्धक और विस्मयोत्पादक घटनाओं का समावेश होता है। एकमात्र भाव-वैचित्र्य से ही कौतूहल नहीं होता। घटना-वैचित्र्य से भी हम लोगों का कौतूहल होता है, विस्मय होता है और आनन्द होता है।

प्रतिदिन एक ही प्रकार का जीवन व्यतीत करने से हम लोगों को एक विरक्ति-सी होने लगती है। हम स्वयं अपने जीवन में कुछ नवीनता, कुछ विलक्षणता पाने की इच्छा करते हैं। एक ही तरह की परिस्थिति में रहने से, चाहे वह कितनी ही अच्छी परिस्थिति क्यों न हो, मन आप-से-आप ऊब जाता है। अंगरेजी में एक कहानी इसी भाव को अच्छी तरह प्रकट करती है।

कहानी का मर्म यह है—एक युवती थी। वह जैसी सुन्दर थी, वैसी ही गुणवती भी थी। उसके रूप और गुण दोनों की सुन्दरता में मुग्ध होकर एक युवक उससे प्रेम करने लगा। वह युवती भी उससे प्रेम करने लगी। यह निश्चित हो गया कि उन दोनों का विवाह होगा। एक दिन युवक ने अपनी प्रिय-तमा को छिपकर कहीं जाते देखा। उसने उसका अनुसरण किया। परन्तु वह यह नहीं जान सका कि वह कहाँ गई। भेंट होने पर उसने युवती से पूछा; परन्तु युवती ने कहा—‘मैं कहीं नहीं गई थी, आपको केवल भ्रम हुआ है।’ युवक को बड़ा आश्चर्य हुआ। एक दिन फिर उसने उस युवती को कहीं जाते देखा। उसको ऐसा जान पड़ा कि युवती ने उसको देख लिया और वह अपने को उससे छिपाकर जल्दी से कहीं जाने का प्रयत्न करने लगी। युवक ने फिर उसका अनुसरण किया। परन्तु वह उसे नहीं पा सका। युवक तुरन्त ही उस युवती के घर लौट आया। वहाँ बैठकर उसने युवती को प्रतीक्षा की। युवती के लौट आने पर फिर उसने पूछा। परन्तु युवती ने फिर भी नहीं बतलाया। एक दिन खूब प्रयत्न करने के बाद युवक

ने उस स्थान का पता लगा लिया, जहाँ वह युवती जाती थी । परन्तु वहाँ उसने कोई भी सन्देहजनक बात नहीं पाई । घर की मालकिन ने बतलाया कि उस युवती ने किराए पर एक कमरा लिया था और वहाँ कभी-कभी आकर वह आध घंटा बैठ जाती थी । वह क्यों ऐसा करती थी, यह युवक नहीं जान सका । उन दोनों का प्रेम-सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया । पर यह बात युवक के लिए रहस्यमय बनी रही ।

इसी प्रकार एक और दूसरी कहानी है । उस कहानी में यह कहा गया है कि एक सुन्दर युवती अपने पति से छिपकर एक घर में जाया करती थी । पति को पता लगने पर उसने बार-बार पूछा पर उसने नहीं बतलाया । पति को अपनी स्त्री के चरित्र पर सन्देह हो गया । एक दिन वह पता लगाकर उस घर में पहुँच ही गया, जहाँ उसकी स्त्री छिपकर गई थी । जब वह घर के भीतर प्रविष्ट होने लगा, तब एक दूसरी स्त्री आकर उसे रोकने लगी । परन्तु उसने उस स्त्री को धक्का देकर कमरे का दरवाजा खोल लिया और भीतर प्रविष्ट हो गया । वहाँ उसने देखा कि उसकी स्त्री एक दासी की तरह घर को साफ करने में लगी हुई है । वह अपने इस काम में इतनी लीन हो गई थी कि उसने अपने पति के आगमन की आहट भी नहीं सुनी । जब उसका पति उसके पास पहुँच कर पूछने लगा—‘क्या कर रही हो ?’—तब वह चौंककर, घबराकर और भीत होकर खड़ी हो गई । अन्त में उसने बतलाया कि एक दासी की लड़की होने के कारण घर के काम-काज में उसे सचमुच जो आनन्द मिलता है, वह उसके पति के ऐश्वर्य-निकेतन में सम्भव

नहीं था। इसीलिए अपने पति के मान और प्रतिष्ठा का विचार कर उसने यह कमरा किराए पर ले लिया था और यहीं एक घंटा दासी का काम कर वह एक तृप्ति का अनुभव कर लेती थी।

सच्ची बात यह है कि सुख, सन्तोष और शान्ति हमारे मन के ऊपर निर्भर है। किसी विशेष स्थिति में जो बात दुखद प्रतीत होती है, वही दूसरी परिस्थिति में सुखद भी हो जाती है।

कितने ही आख्यायिका—लेखक दरिद्रता की वीभत्सता, प्रदर्शित करने के लिये अत्यन्त ग्लानिकर चित्र अंकित करते हैं। अभाव के कष्ट से पीड़ित होकर और भूख की ज्वाला से संतप्त होकर एक मजदूर ने अपनी अंधों बहू और नाती की हत्या कर डाली, वह भी गला घोटकर। इसी प्रकार एक दूसरे मजदूर ने मिठाई में विष भिलाकर अपनी स्त्री और बच्चों को खिला दिया और खुद खा लिया। ऐसी कितनी ही घटनाएँ हिन्दी के कथा-साहित्य में वर्णित हुई हैं। स्त्रियों की हीनावस्था का वर्णन कर कितनी ही कहानियों में यह दिखलाया गया है कि विलास की कामना से प्रेरित होकर कितनी ही शिक्षित महिलाओं को भी अपने पति की आर्थिक हीनता पर असन्तोष हुआ और क्रोध भो। अन्त में उन्होंने किसी धनी युवक का आश्रय लिया।

जीवन में सर्वत्र जो अर्थ की महत्ता प्रदर्शित हो रही है, उससे जान पड़ता है कि मनुष्य पशु रूप में ही परिणत हो रहा है। पाशविक अवस्था में ही हम अन्य सभी भावों को छोड़कर आहार, निद्रा, भय और मैथुन की चिन्ता करते हैं। मनुष्य स्वयं दुख को स्वीकार कर सकता है, वह कष्ट और अभाव को

इच्छा से ले सकता है, वह विषम स्थिति में भी अपने जीवन के गौरव की रक्षा कर सकता है और सभी प्रकार के कष्ट होने पर भी वह स्नेह की महिमा से महीयान हो सकता है, ये बातें शायद वर्तमान अर्थ-युग में असम्भव-सी हो रही हैं। पाप है, इसीलिये पश्चाताप का भाव है। कष्ट है इसीलिए दया और सहानुभूति है। विपत्ति है, इसीलिए सहनशीलता है। प्रेम है, इसीलिए सेवा और त्याग है। विषम परिस्थिति है, इसीलिए मैत्री है, उपकार है और उदारता है। मनुष्यों में एक ओर नीच प्रवृत्तियाँ काम करती हैं और दूसरी ओर शुभ प्रवृत्तियाँ भी। इन्हीं दोनों के द्वन्द्व से जीवन के यथार्थ गौरव की परीक्षा होती है। यह गौरव ऐश्वर्य और शक्ति में नहीं, सर्वत्र विद्यमान है। इसीलिए मनुष्य लुप्त होकर भी महत् है। आज हम कदाचित् यह बात भूल गये हैं।

कला का विन्यास

वसन्त के किसी मध्याह्नकाल में कुछ देर तक चिन्तामग्न रहने के बाद साहित्य के तरुण उपासक रमेश ने कलम उठा ली और लिखना प्रारम्भ किया ।

“देवगढ़ के कुमार इन्द्रजीतसिंह के पास रूप था, सम्पत्ति थी, प्रभुत्व था और थी यौवन की स्फूर्ति । फिर भी उन्हें जीवन से विरक्ति हो गई थी । कोई भी काम उन्हें अच्छा नहीं लगता था । प्रतिदिन वही बातें होतीं, वही लोग मिलने आते और उनसे उन्हीं बातों की चर्चा होती थी । वही चिन्ताएँ उन्हें प्रतिदिन करनी पड़ती थीं । यात्रा से अब उन्हें अनुराग नहीं था । घूमते-घूमते वे एक क्लान्ति का अनुभव करने लगे थे । सिनेमा से तो उन्हें बिल्कुल चिढ़ हो गई थी, संगीत में भी अब उन्हें कोई रस नहीं प्राप्त होता था । साहित्य तो बिल्कुल असह्य हो गया था । हाथ में किसी भी प्रसिद्ध कलाकार की पुस्तक लेते ही उन्हें नींद आने लगती थी । साहित्य को वे नींद लाने की एक औषध समझते थे । जीवन के प्रारम्भ-काल में उन्होंने प्रेम, उल्लास और स्फूर्ति का जो एक कल्पना-जगत् निर्मित किया था, वह संसार के यथार्थ कर्मक्षेत्र में प्रविष्ट होते ही विलीन हो गया । जीवन में अब उन्हें कोई रस नहीं रहा ।

कुमार इन्द्रजीतसिंह कुछ सोच नहीं सकते थे, कुछ समझ नहीं सकते थे कि उनकी इस अतृप्ति, विरक्ति और असंतोष का कारण क्या है। एक दिन गया से उनके एक मित्र उनसे भेंट करने के लिए आए। मित्र का नाम था राधाकान्त और वे उनके अंतरंग मित्र थे। इन्द्रजीतसिंह ने उन्हें अपने असंतोष की बात सुनाई। राधाकान्त ने कहा—आप बाहर क्यों नहीं जाते ? कूपमंडूक की तरह एक ही जगह बद्ध रहने से जीवन में रस कैसे आ सकता है ?

इन्द्रजीतसिंह ने कहा—‘घूमते-घूमते तो भाई, मैं थक गया हूँ। कलकत्ता, बंबई, दिल्ली, आगरा, जयपुर, जोधपुर सभी जगह घूम चुका हूँ। रेलगाड़ियों और मोटरों से बिलकुल ऊब गया हूँ। अब तो हवाई जहाज में भी मेरे लिए कोई आकर्षण नहीं रहा। सच्ची बात यह है कि मैं अब जीवन का यथार्थ मधुर रस पाना चाहता हूँ।’

राधाकान्तजी उनकी बात सुन, ‘हूँ’ कह क्षण भर कुछ सोचते रहे, फिर उन्होंने कहा—‘अब आप गया आइए। रुपयों की तो आपको चिन्ता नहीं है। मैं आपको वहीं जीवन के यथार्थ रस का अनुभव कराऊँगा। आप अकेले ही आइए। पंद्रह दिनों के बाद आइए, तब तक मैं आपके लिए सब प्रकार की व्यवस्था कर डालूँगा; परन्तु मुझे जितने रुपयों की आवश्यकता होगी, वह मैं आपसे ले लूँगा।’

कुमार ने राधाकान्तजी की बात स्वीकार कर ली।

पन्द्रह दिन के बाद कुँवर इन्द्रजीतसिंह गया गए। उन्होंने

राधाकान्तजी को अपने आने की सूचना दे दी। वे राधाकान्तजी को अच्छी तरह जानते थे। वे यह समझ चुके थे कि उन्हें राधाकान्तजी कहाँ-कहाँ ले जाएँगे। पर उनमें से किसी के प्रति भी उन्हें रुचि नहीं रह गई थी। ऐश्वर्य के विलासमय कृत्रिम जीवन से तो उन्हें घृणा हो गई थी, फिर भी उन्होंने यह सोचा कि दो दिन घूम आने में हानि ही क्या है? वे फर्स्ट क्लास में यात्रा कर रहे थे। उसमें और कोई दूसरा यात्री नहीं था। जब गया पहुँचने में दो-चार स्टेशन रह गए, तब एक छोटे स्टेशन पर गाड़ी छूटने के समय एक नवयुवती सहसा उसी डिब्बे में प्रविष्ट हुई। उसके चेहरे से ऐसा जान पड़ता था कि वह कुछ घबराई-सी है। उस युवती ने तुरन्त ही दरवाजा बन्द कर दिया और एक कोने में जाकर बैठ गई।

गाड़ी ने सीटी दी और क्षण भर में वह द्रुत वेग से चलने लगी। तब उस तरुणी ने कुमार इन्द्रजीतसिंह पर दृष्टिपात किया। पहले तो वह कुछ झिझककर उठ खड़ी हुई, फिर कुछ गंभीर होकर अपनी उसी जगह बैठ गई। उस युवती के चेहरे पर आतंक, उद्वेग और आशंका का एक ऐसा भाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता था कि उसके प्रति कुमार इन्द्रजीत के हृदय में आप-से-आप एक कौतूहलपूर्ण आकर्षण हो गया। पर कौतूहल होने पर भी वे उस अपरिचित रमणी से बातचीत करने का साहस न कर सके। वह युवती कुछ देर तक बाहर देखती रही, फिर उसने सहसा कुमार की ओर दृष्टिपात कर कहा—‘आप मेरी धृष्टता क्षमा करें; क्या मैं जान सकती हूँ कि आप कहाँ से आ रहे हैं?’

कुमार ने उत्तर दिया—‘बिलासपुर से ।’

‘आप क्या किसी काम से गया जा रहे हैं ?’

‘नहीं; मैं यों ही घूमने जा रहा हूँ ।’

‘आपको मेरी धृष्टता के कारण आश्चर्य होता होगा; पर मैं एक विचित्र संकट में पड़ी हुई हूँ ।’

‘यदि आप अनुचित न समझें, तो मुझे अपने संकट का हाल बतलाने की कृपा करें ।’

‘मैं अपनी विपत्ति का हाल बतला नहीं सकती, पर...’
इतना कहकर वह युवती क्षण भर रुक गई । फिर उसने एक दीर्घ निःश्वास लेकर कहा—‘आपसे मैं सर्वथा अपरिचित हूँ, फिर भी आपके इस क्षणिक परिचय से मुझे यह विश्वास हो गया है कि आपमें अपूर्व सहृदयता, सज्जनता और उदारता है । इसलिये मैं एक छोटी बात के लिये याचना करना चाहती हूँ ।’

उस युवती में अपूर्व सौन्दर्य था । उसकी वाणी में मधुरिमा थी । कुमार विस्मय-विमुग्ध हो बोले—‘यदि मैं आपकी किसी प्रकार सेवा कर सका तो अवश्य करूँगा । आप निस्संकोच कहिये ।’

रमणी ने पूछा—‘आप गया में कहाँ ठहरेंगे ?’

कुमार ने उत्तर दिया—‘मैं गया में बाबू राधाकान्तजी के यहाँ ठहरूँगा । बाजार में उनका मकान है, और वहाँ किसी से भी पूछने पर आप उनका पता लगा लेंगी ।’

‘अच्छी बात है, मैं वहीं आपसे मिलूँगी । तब तक आप यह अँगूठी अपने पास रखिये ।’ यह कहकर उसने अपने बेग में से अँगूठी निकालकर उसे कुमार के हाथों में दी और कहा—‘इसे आप साधारण अँगूठी मत समझिये । इसी पर मेरा

जीवन-मरण निर्भर है । अभी मैं आपसे कुछ कह नहीं सकती, पर समय आने पर आप स्वयं जान जायेंगे कि इस अँगूठी का रहस्य क्या है ? आप खूब सावधानी से रखिये । आप इसे अपने अँगुली में ही पहन लीजिये और किसी भी अवस्था में इसे आप क्षण भर के लिए भी अलग न कीजिएगा । इसी एक बात पर मेरा सारा जीवन आश्रित है ।'

कुमार इन्द्रजीतसिंह उस युवती की बातें सुनकर बड़े आश्चर्य में पड़ गए । पर उस युवती की बात स्वीकार कर उन्होंने वह अँगूठी पहन ली । फिर दोनों में कोई बात नहीं हुई । गाड़ी गया स्टेशन पर रुकी । रमणी तुरन्त ही उतरकर चली गई । इन्द्रजीतसिंहजी भी नीचे उतरे । वहाँ राधाकान्तजी उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे । उनकी इच्छा हुई कि युवती की बात वे राधाकान्तजी को बतला दें; पर कुछ सोच कर वे रुक गये । फिर वे राधाकान्तजी के साथ एक मोटर में बैठकर रवाना हुए ।

यहाँ तक लिख लेने के बाद रमेश की कलम आप-से-आप रुक गई । आगे किस प्रकार यह घटना-चक्र बढ़ाया जाय, यह उसकी समझ में न आया । वह बड़ी देर तक सोचता रहा । वह उसी दिन एक आख्यायिका लिख कर किसी पत्र में भेजना चाहता था । अर्थ की दृष्टि से पत्रों में आजकल आख्यायिका का ही मूल्य होता है । परन्तु आख्यायिका के लिये कथा-वस्तु सबसे अधिक मुख्य है, वही वह सोच नहीं पाता था । बात बिल्कुल सच है, जब तक कथा के लिए कोई वस्तु ही नहीं है,

तब तक कथा लिखी किस प्रकार जा सकती है। इसीलिये रमेश बड़ी चिन्ता में पड़ा हुआ था।

मनुष्यों को कथा के प्रति जो अनुराग है, उसका कारण यह है कि उनके दैनिक जीवन में कहीं असाधारणता नहीं रहती, कहीं विलक्षणता नहीं रहती, एक ही प्रकार की बातें प्रतिदिन होती हैं। स्थिति वैपरीत्य से उन्हें भले ही कभी अर्थ की चिन्ता करनी पड़े, कभी कष्ट सहना पड़े, कभी प्रयास करना पड़े, पर सभी तरह के कष्टों में ऐसी कोई बात नहीं रहती, जो असाधारण या विलक्षण हो।

अधिकांश लोगों को कष्ट ही सहना पड़ता है। जीवन से विरक्त होकर लोग अपने छोटे-छोटे व्यवहार के कारण इतने त्रस्त और उद्विग्न हो जाते हैं कि सभी क्षण भर यथार्थ जगत् की कठोरता को भूलकर कल्पना के किसी माया-लोक में विचरना चाहते हैं। कल्पना के इस माया-लोक में प्रेम का राज्य है। वहाँ सौन्दर्य और श्री का निवास रहता है। वहाँ पीड़ा और वेदना में भी मादकता रहती है। वहाँ दुःख-कष्ट में गौरव रहता है। हम सभी नायक होकर अपनी हीनावस्था में भी एक उच्चतम अवस्था की कल्पना कर लेते हैं।

किसी विद्वान् ने कहा है कि कथा में जीवन की अनुभूति रहती है, उसमें जीवन का यथार्थ चित्रण होता है, उसमें समाज की यथार्थ स्थिति अंकित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सत्य के आधार पर ही कल्पना कथा-जगत् का निर्माण करती है। कथाओं में पात्र कल्पित होते हैं, स्थिति

कल्पित होती है, घटनाएँ कल्पित होती हैं, फिर भी उनमें सत्य का चिरन्तन रूप तो व्यक्त होता है; उस कल्पना के भीतर लेखक की सच्ची अनुभूति तो विद्यमान रहती है ।

रमेश ने अब तक अपनी अनुभूति के आधार पर ही देवगढ़ के कुमार इन्द्रजीतसिंह की सृष्टि की । कुमार इन्द्रजीतसिंह की जो मानसिक स्थिति थी, वही उसकी भी थी । तरुणावस्था की अतृप्ति, विरक्ति, असन्तोष और एक अज्ञात, अलक्षित आकांक्षा के भाव जैसे कुमार में उदित हुए थे, वैसे ही रमेश के हृदय में थे ।

यात्रा में सभी समय अपूर्व सौंदर्य-शालिनी युवतियों से भेंट नहीं होती, यह सच है । फिर भी यह बात नहीं है कि हम लोग रेलगाड़ी में यात्रा करते समय कभी कोई ऐसी स्त्री को नहीं देख पाते जिसके रूप से हम लोग मुग्ध हो जाते हैं । कितने ही आख्यायिका-लेखकों ने रेलगाड़ी की यात्रा में ही नायकों का परिचय अपूर्व सुन्दरियों से कराया है । परिचय होने पर उनसे स्नेह और विश्वास का मधुरालाप सर्वथा असम्भव नहीं । किसी अज्ञात आशंका और भय से त्रस्त कोई अपूर्व सुन्दरी किसी अपरिचित युवक को उस विषम अवस्था में इतना विश्वासपात्र बना ले कि वह उसे अँगूठी दे दे; यह कोई अलौकिक घटना नहीं हुई । ऐसी बात बिलकुल असम्भव भी हो, तो तरुणों के हृदय में तो वह सर्वथा सम्भव है; क्योंकि सभी तरुण यह चाहते हैं कि किसी अपूर्व सुन्दरी से अचानक उनका परिचय हो जाय और उनका वह परिचय प्रेम और विश्वास के रूप में परिणत हो जाय ।

यहाँ तक तो रमेश के हृदय में अपनी आख्यायिका की गति पर कोई सन्देह नहीं हुआ। पर अब घटनाओं का विन्यास कैसे किया जाय ? कहा गया है कि सत्य सदैव नीरव रहता है और कल्पना ही मुखरा होती है। विधाता की रंग-भूमि में जीवन का जो अभिनय हो रहा है, उसमें यवनिका का पतन सर्वथा अनिश्चित रहता है। न जाने कब, किस अवस्था में यवनिका का पतन हो जाए और पात्र किसी अज्ञात, रहस्यमय लोक में अन्तर्हित हो जाए। कितनी ही आशाएँ और कामनाएँ अपूर्ण रह जाती हैं; परन्तु कल्पना यथार्थ जगत् की इसी कठोरता को मनोहर बना देती है। यथार्थ जगत् में यात्रा का परिचय क्षणिक होता है। हृदय में लालसा होने पर भी परिचय प्रेम में परिणत नहीं होता। कभी-कभी तो यात्रा में हम लोगों को ऐसी असुविधाजनक स्थिति में रहना पड़ता है कि प्रेम के लिए स्थान ही नहीं रहता। तो भी कल्पना द्वारा हम लोग प्रेम की मधुर स्थिति का अनुभव कर लेते हैं। प्रताड़ित, तिरस्कृत और दलित होकर भी हम किसी अपूर्व सुन्दरी के हृदय-सिंहासन पर अक्षय स्थान पा जाते हैं।

इन्हीं सब भावों से प्रेरित होकर प्रेम की विलक्षण घटनाओं से पूर्ण एक कथा लिखने का विचार कर यहाँ तक तो कहानी लिख डाली, पर वह आगे क्या लिखे ? अब कौन बात लेकर कथा का विकास किया जाय ? यही सोचते-सोचते रमेश क्लान्त का अनुभव करने लगा। वह मन ही मन कहने लगा कि खत्रीजी ने न-जाने किस बल से चौबीस भागों में एक उपन्यास लिख डाला; किशोरीलालजी गोस्वामी असंख्य उपन्यासों की

रचना कर चले गए; गहमरीजी कितनी ही रहस्यपूर्ण घटनाओं का भंडाफोड़ कल्पना द्वारा कर गए। पर रमेश में तो वह शक्ति नहीं, तब वह क्या करे ?

इसी चिन्ता में रमेश की आँखें झपने लगीं। उसे ऐसा जान पड़ा मानो वह अन्तरिक्ष में उड़ा जा रहा हो। शरीर विवश था। वह एक शिथिलता का अनुभव कर रहा था। फिर भी उसे ऐसा जान पड़ा कि वह किसी अपरिचित लोक में पहुँच गया है। वहाँ उसने एक रमणीक स्थान में कुछ लोगों को बैठे देखा। वहीं जाकर वह खड़ा हो गया, अथवा यह कहना चाहिए कि वहाँ वह किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से खड़ा कर दिया गया। उसे देखकर उन व्यक्तियों में से एक ने कहा—‘इस गरीब लेखक को कथा-वस्तु ही नहीं मिल रही है। भला, बतलाइए तो कि गप मारने के लिये भी क्या कोई शक्ति चाहिये ?’

दूसरे ने कहा—‘गप नहीं, गल्प कहो। इसमें सन्देह नहीं कि स्वर्ग में तत्त्व का चिन्तन करते-करते मैं भी ऊब गया हूँ। जब मैं भूलोक में था, तब मैं न-जाने कितनी कथाओं की सृष्टि किया करता था।’

तीसरे ने कहा—‘तब इसको आप कुछ सहायता क्यों नहीं दे देते ?’

उस व्यक्ति ने कहा—‘एक काम कीजिए, हम सभी लोग तो कल्पना के मायालोक में विचरण कर चुके हैं। आइए, आज हम सभी मिलकर इस लेखक के लिए एक कथा तैयार कर दें।’

कथा ऐसी हो कि उसके निर्माण में हम सभी लोगों का कुछ-कुछ अंश होना चाहिये ।’

यह बात सुनकर जितने वहाँ बैठे थे, सभी तैयार हो गए । तब एक गम्भीर आकृति के पुरुष की ओर दृष्टिपात कर एक ने कहा—‘व्यासजी, आप ही उसकी कथा को आगे बढ़ाइए ।’

तब पंडित अम्बिकादत्तजी व्यास ने कहा—‘यदि आप सब लोगों का यही अनुरोध है, तो मैं कथाओं का विशेष प्रेमी न रहने पर भी कथा आरम्भ किए देता हूँ ।’

“गया में कुमार ने एक पहाड़ की बड़ी प्रशंसा सुनी । लोगों ने बतलाया कि वह सिद्धस्थान है । वहाँ तपस्वी मुनि भी रहते हैं । कुमार उत्कंठित होकर अपने चार-पाँच इष्ट-मित्रों के साथ उस पहाड़ की ओर चले । साँझ होते-होते वे उस पहाड़ की जड़ में पहुँचे । उस समय एक तो साँझ होने के कारण अन्धकार होता ही जाता था, फिर उस पहाड़ के पेड़ों ने तो एकाएक नील स्वरूप ही धारण कर लिया । वह आकाश चूमता हुआ पहाड़, वह श्याम पेड़ों की छटा, वह ठंडी हवा का सर्राटा, वह बनैले जन्तुओं का शब्द, वह बड़ी-बड़ी कन्दराओं का गूँजना और वह एक विलक्षण सन्नाटा—सभी कुछ अपूर्व था । ऊपर चढ़ जाने से उस अँधेरे में भी यह दीख पड़ने लगा कि यह पहाड़ कंकणाकार चारों ओर घूम गया है और बीच में इसने थोड़ा स्थान छोड़ दिया है । इसी पहाड़ी घेरे में पूर्व की ओर यह चढ़ाववाली भूमि थी । मानो घेरे में जाने का यह द्वार हो । फिर उतार की भूमि आई ।

एक साथी ने कहा—‘यहाँ भूत-पिशाच अधिक रहते हैं । कोई संग छोड़कर आगे-पीछे मत होना ।’

इतने में रात हो गई, चन्द्रमा निकला, दूध की-सी वर्षा होने लगी, भरनों का जल चमाचम चमकने लगा । हवा से पेड़ काँपते दिखाई देने लगे और चारों ओर काले पत्थर भालुओं का भ्रम देने लगे । कुमार बहुत थक गया था, सो चुपचाप एक ऊँचे पत्थर पर बैठ गया । उसके साथियों में से यह बात किसी ने न जानी और उसने भी नहीं कहा; समझा कि झट साथ हो ही जाऊँगा । पर उस उमड़े हुए समुद्र ऐसे पहाड़ में उसकी आँख क्या लगी; देर तक वह उधर ही देखता रहा । फिर चित्त में कुछ भय हुआ । इधर तो यह डर का अंकुर जमा और उधर देखा कि कोई साथी नहीं । क्या जाने किधर चले गए । इतने ही में ऐसा जान पड़ा कि किसी ने उसके कंधे पर धीरे से धक्का दिया । वह स्पर्श का अनुभव करते ही चिहुँक के साथ उछलकर एक ओर खड़ा हो गया और आश्चर्य तथा भयाकुल दृष्टि से फिर पीछे देखने लगा ।”

यहीं उन्होंने कथा रोककर देवकीनन्दन खत्री की ओर इशारा कर कहा—‘लीजिए, अब आप इसे और बढ़ाइए ।’

तब खत्रीजी कहने लगे :

“कुमार इन्द्रजीत को एक औरत दिखलाई पड़ी । उसने हाथ के इशारे से उन्हें चुप रहने को कहा । उसने एक लिफाफा उनके हाथ में दिया । उन्होंने कुछ पूछना चाहा, मगर उसने यह कह कर कुमार का मुँह बंद कर दिया कि ‘बस, जो कुछ है, इस चिट्ठी से आपको मालूम हो जाएगा । मैं जुबानी कुछ कहना

नहीं चाहती और न यहाँ ठहरने का मौका है; क्योंकि अगर कोई देख लेगा, तो हम आप दोनों ऐसी आफत में फँस जायेंगे कि छुटकारा पाना मुश्किल हो जायगा।' कुमार के जवाब का इन्तजार न करके वह औरत पहाड़ी पर चढ़ गई और चालीस-पचास हाथ जा, एक गढ़े में घुसकर न-मालूम कहाँ लोप हो गई। ताज्जुब में आकर कुमार आध घड़ी तक उस तरफ देखते रहे। मगर फिर वह नजर न आई। लाचार हो उन्होंने कागज खोला और बड़े गौर से पढ़ने लगे। रात होने पर भी उन्होंने उसे साफ पढ़ लिया। उसमें लिखा था:—

‘हाय, मैंने अपने को आपके हाथ में सौंप दिया; लेकिन आपने मेरी कुछ भी खबर नहीं ली।’

इस चिट्ठी के पढ़ते ही कुमार के कलेजे में अजीब धड़कन पैदा हुई। वे चट्टान पर बैठ गए और कुछ देर तक सोचने लगे। फिर उठ, वे भी उस पहाड़ी पर वहाँ तक चढ़ गए, जहाँ वह औरत नजर पड़ी थी। ढूँढ़ने से एक सुरंग ऐसी नजर आई, जिसमें आदमी बखूबी घुस सकता था। कुमार को विश्वास हो गया कि इसी राह से वह औरत आई थी और वे भी इसी राह से उसके पास पहुँच जायेंगे। यही सोचकर ज्यों ही वे सुरंग के भीतर घुसे, त्यों ही एक खट आवाज हुई और उस सुरंग का मुँह बंद हो गया।

चारों ओर अँधेरा हो गया। कुमार घबराकर खड़े हो गए। वे समझ नहीं सके कि क्या किया जाय। सहसा उन्हें एक रोशनी दिखाई पड़ी। ऐसा जान पड़ा कि कोई उनकी ओर आ रहा है। जब रोशनी पास आ गई, तब उन्होंने देखा

कि वही स्त्री हाथ में मोमबत्ती लिए आ रही है। उसने उन्हें देखते ही कहा—‘अच्छा, आप आखिर आ ही गए ? अब मेरे पीछे-पीछे चले आइए ।’ कुमार उस औरत के पीछे-पीछे चलने लगे ।

खोह की अवस्था देखने से जान पड़ता था कि वर्षों से उसकी जमीन ने किसी आदमी के पैर न चूमे होंगे । बल्कि यह कह सकते हैं कि शायद किसी जंगली जानवर ने भी उस खोह के अन्दर जाने का साहस न किया होगा । थोड़ी दूर पर खोह का अन्त हुआ । कुमार ने अपने सामने लोहे का एक बन्द दरवाजा देखा । उस युवती ने एक भेदभरी निगाह उन पर डाली और कहा ‘इस दरवाजे का हाल मेरे सिवाय और दूसरा नहीं जानता । आज आपको वह भेद मालूम हो जायगा । इसे खोलने की चाबी भी इसी जगह मौजूद है ।’ यह कहकर उसने खंजर के कब्जे से दरवाजे के दाहिनी तरफ बीचोंबीच की जमीन ठोंकी, जो वास्तव में किसी धातु की थी । मगर मुहत से काम में न आने के कारण उसका रंग पत्थर के रंग से मिल गया था । ठोकने के साथ ही तनिक-सा पल्ला अलग हो गया । उसके अन्दर हाथ डालकर पेंच घुमाया गया । इसके बाद वह कुमार को लिये हुए दरवाजे के अन्दर चली गई । दरवाजा खोलने के लिए जिस तरह की चाबी इस तरफ थी, उसी तरह की चाबी दरवाजे के दूसरे तरफ भी थी । उसे घुमाकर उस युवती ने दरवाजा बन्द किया । फिर आगे की तरफ बढ़ी । कुमार को घंटे भर तक उसके साथ बढ़ी तेजी से चलना पड़ा । इसके बाद वे लोग सुरंग के दूसरे मुहाने पर पहुँचे । इसका

दरवाजा भी उसी ढंग से खुलता था । उस दरवाजे को खोलकर वह युवती कुमार को एक बड़े भारी कमरे में ले गई ।”

यहीं उन्होंने अपना कहानी रोककर कहा—“गोपालरामजी गहमरी, अब आप आगे का हाल बतलाइए ।”

गहमरीजी ने कहना शुरू किया:—

“वह युवती कुमार को आसन पर बैठाकर, एक आलमारी से एक अँगूठी ले आई । फिर कुमार की ओर ताककर कहने लगी—‘आपको मालूम नहीं है महाराज, मैं कितने दिनों से आपको जानती हूँ । मेरे मामा आपके ही घर में नौकर थे । आपके पिता नवागढ़ के राजा के साथ विलायत गए थे । वहाँ उन्होंने मेम से शादी की । उस मेम से, सुनती हूँ कि एक लड़की भी हुई । इसके बाद आपके पिता लौट आए । यहाँ आने पर उन्होंने फिर शादी की और बढ़िया सुन्दरी से शादी की । उस शादी की बात क्या कहूँ, बड़ी धूम-धाम से हुई थी । महीनों खुशी मनाई गई । नाच-रंग, तमाशा, रासलौला, नाटक, जादू के खेल, बड़े-बड़े साहब, साहूकार, सेठ, सरदार उस हजूम में आए । इसके बाद आपका जन्म हुआ और आपके जन्म के बाद नवागढ़ के राजा के लड़की हुई । लड़की को नवागढ़ के राजा साहब ने बड़े प्रेम से पाला । लड़की एक मेम से अँगरेजी पढ़ने लगी । दो आदमी गाना-बजाना सिखाने लगे ।

लड़की स्वर्ग की परी है । जैसा शरीर का सुनहला रंग, वैसा ही सुडौल मुख-मंडल, गठन वगैरह सब एक-से-एक बढ़कर । जैसा रूप है वैसा ही गुण । इतने धन-दौलत की मालकिन होने पर भी उसमें जरा भी धमंड नहीं । नवागढ़ के

राजा ने और आपके पिता ने यह निश्चय किया कि उसीके साथ आपका विवाह होगा। देखिए, आपके हाथ में जो अँगूठी है, ठीक इसी तरह की यह अँगूठी है। यह अँगूठी बिलकुल उसी जैसी है। यह जो ऊपर आप ढकना-सा देख रहे हैं, वह स्प्रिंग के दबाने से ऊपर आता है। देखिए, मैं यह स्प्रिंग दबाती हूँ।

उस युवती के स्प्रिंग दबाते ही ढकन खुल गया और उसमें एक छोटा फोटो दिखलाई देने लगा। वह फोटो किसी अपूर्व सुन्दरी का था। इसके बाद उस युवती ने कहा—‘ठीक ऐसी ही अँगूठी उस लड़की के पास भी है। अन्तर इतना ही है कि इसमें जहाँ उसका फोटो है, उसमें उसी जगह आपका फोटो है। वह लड़की कलकत्ते से आ रही थी। उसके साथ उसको पढ़ानेवाली मेम थी। पर न-जाने रास्ते में क्या बात हुई कि वह लड़की बिलकुल गुम हो गई। अभी तक उसका कोई पता नहीं लगा है। मेरा यह अनुमान है कि यह काम उसी मेम का है, जिसको आपके पिताजी ने विवाह कर विलायत में छोड़ दिया था। वह प्रतिहिंसा के भाव से आपके भी साथ कुछ अनिष्ट करना चाहती है। आपका जो मित्र राधाकान्त है, वह उस मेम की लड़की का प्रेमी है। वह आपको संकट में डालने के लिये यहाँ ले आया है। यह अँगूठी मैं आपको देती हूँ, अब आप जैसा ठीक समझिए कीजिए। मैं इस गुप्त घर से आपको बाहर निकाल देती हूँ। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि वह लड़की किसी गाँव में रहती है। आप उसे ढूँढ़ निकालिए। पर इसके साथ आपको एक काम और करना पड़ेगा। आपके पिताजी

एक दस्तावेज देवदत्त के पास छोड़ गये हैं । आप पहले उनसे मिलकर दस्तावेज अपने कब्जे में कीजिये । यह कह कर उसने कुमार को एक गुप्त राह से बाहर निकाल दिया ।

कुमार विस्मय, आतंक, आह्लाद और आशंका का भाव लेकर बाहर आए । फिर देवदत्त का पता लगाने में वे व्यस्त हुए ।”

यहीं कथा समाप्त कर गहमरीजी ने अयोध्यासिंहजी उपाध्याय से कहा—‘अब आप कहिए ।’

तब उपाध्यायजी कहने लगे :—

“वैशाख का महीना था । दो घड़ी रात बीत गई थी । चमकीले तारे चारों ओर आकाश में फैले हुए थे । दूज का वाल-सा पतला चाँद पश्चिम की ओर डूब रहा था । अँधियारा बढ़ता जाता था । तारों की चमक बढ़ती जान पड़ती थी । उनमें ज्योति-सी फूट रही थी । वे कुछ हिलते भी थे । उनमें चुपचाप कोई-कोई कभी टूट पड़ते थे, जिससे सुनसान आकाश में रह-रहकर फुलभङ्गी सी छूट जाती थी । रात का सन्नाटा बढ़ रहा था । बड़ी उमस थी । पवन डोलती तक नहीं थी, लोग घबरा रहे थे । कोई बाहर खेतों में घूमता था, कोई घर की खुली छतों पर ठण्डा हो रहा था ।

भीतों से घिरे हुए एक छोटे-से घर में एक छोटा-सा आँगन था । मिट्टी का एक छोटा-सा दीप जल रहा था । उसके धुँधले उजाले में देखने से जान पड़ता था कि इस आँगन में दो पलंग पड़े हुए हैं । एक पलंग पर चालीस-पैंतालीस वर्ष का एक व्यक्ति लेटा हुआ है । दूसरे पलंग पर पैंतीस-छत्तीस वर्ष की

एक अघेड़ स्त्री लेटी पंखा झूल रही है। इस स्त्री के पास चौदह वर्ष की एक लड़की भी बैठी है। वह एकटक आकाश की ओर देख रही है।”

यहाँ तक कहने के बाद उपाध्यायजी ने प्रेमचंदजी की ओर देखकर कहा—‘अब आप कहिये।’

प्रेमचंदजी कहने लगे:—

“जो व्यक्ति पलंग पर लेटा था, उसका नाम था देवदत्त। कभी पंडित देवदत्त के पूर्वजों का कारोबार बहुत विस्तृत था। वे लेन-देन किया करते थे। पर जब देवदत्त ने होश सँभाला, तब उसके पास खँडहर के अतिरिक्त कोई भी सम्पत्ति नहीं थी। अब निर्वाह के लिए कोई उपाय नहीं था। कृषि में परिश्रम और कष्ट था। वाणिज्य के लिए धन और बुद्धि की आवश्यकता थी। विद्या ऐसी नहीं थी कि कहीं नौकरी करते। पंडितजी उस समय निराशा के समुद्र में गोते खा रहे थे। रात्रि का अन्धकार बढ़ता जा रहा था। वृक्षों पर भी सन्नाटा छा गया था। इतने में घंटों के लगातार शब्द वायु और अन्धकार को चीरते हुए कान में आने लगे। उनकी सुहावनी ध्वनि इस निस्तब्धता में अत्यन्त भली प्रतीत होती थी। ये शब्द समीप होते गए और अन्त में पंडित देवदत्त के सामने आकर उस खँडहर में डूब गए।

इतने में किसी ने बाहर से पुकारा—‘पंडितजी, पंडितजी!’

पंडितजी ने चौंककर सिर उठाया। अँधेरे में टटोलते हुए दरवाजे तक आए। देखा कि कई आदमी हाथ में मशाल लिए खड़े हैं और एक हाथी अपनी सूँड़ से अरण्य के वृक्षों को उखाड़

रहा है। हाथी पर एक सुन्दर युवक बैठा हुआ है, जिसके सिर पर केसरिया रंग की पाग है। उसका कलीदार अँगरखा और चूड़ीदार पैजामा, कमर में लटकती तलवार और गर्दन में सुनहले कंठे और जंजीर उसके सजीले शरीर पर अत्यन्त शोभा पा रहे थे। देखते ही उसने नीचे उतर कर पंडितजी की वंदना की। पंडितजी बोले—‘आपका आगमन कहाँ से हुआ?’

नवयुवक ने नम्र शब्दों में जवाब दिया—‘मैं देवगढ़ का कुमार इन्द्रजीतसिंह हूँ.....’

प्रेमचन्दजी कुछ और कहना ही चाहते थे कि धर्मराज का एक दूत वहाँ पहुँच गया और उसने सभी उपस्थित साहित्य-सेवियों से नम्रतापूर्वक कहा कि ‘अब आप लोग स्वर्गलोक में भू-लोक की कथा का निर्माण मत कीजिये। यदि आप लोगों का यही इच्छा है, तो स्वर्ग-सुख को छोड़कर आप आख्यायिका-लेखक के रूप में इसी लेखक के साथ फिर भू-लोक में अवतीर्ण हो जाइए।’

इस पर सभी लोग चुप हो गये। तब धर्मदूत ने रमेश को एक धक्का देकर कहा—‘जाइए, अभी आप भू-लोक में और कुछ दिनों तक साहित्य-सेवा का आनन्द लूटिए। पर इन्हीं प्रेमचन्दजी ने साहित्य-सेवा के विषय में क्या लिखा है, उसे भी सुन लीजिए। इन्होंने खुद लिखा है कि साहित्य का उपासक सूर्योदय से आधी रात तक अन्तर्जगत् में डूबा हुआ, समस्त संसार से मुँह मोड़े, हृदय के पुष्प और नैवेद्य चढ़ाता रहता है। भारत में सरस्वती की उपासना लक्ष्मी की अभक्ति है। आपके पास मन तो एक ही है, दोनों देवियों को आप एक

साथ कैसे प्रसन्न कर सकते हैं; दोनों के वरदान के पात्र कैसे हो सकते हैं ? यह भी समझ रखिए कि लक्ष्मी की यह अकृपा केवल धनाभाव के रूप में प्रकट नहीं होती, उसकी सबसे निर्दय क्रीड़ा यह है कि पत्रों के सम्पादक और पुस्तकों के प्रकाशक उसे उदारतापूर्वक, सहृदयता का दान भी नहीं देते ।

यहीं रमेश की आँखें खुल गईं । उसने कहा—‘इस स्वप्न ने सचमुच मेरी आँखें खोल दीं और उसने अब निश्चय कर लिया कि वह सब कुछ करेगा; किन्तु वह कहानी नहीं लिखेगा । पर इतने साहित्य-महारथियों के सम्मिलित प्रयास से जो कहानी बनी है, उसे अधूरी तो नहीं छोड़नी चाहिए, यही सोचकर रमेश फिर लिखने लगा :—

“देवदत्तजी से दस्तावेज के रूप में कुमार को जो कागज मिला था, उसे खोलकर पढ़ते ही कुमार के आश्चर्य की सीमा न रही । उसमें राधाकान्तजी का एक पत्र था । उसमें लिखा था, आपको जीवन की यथार्थ रसानुभूति के लिए मैंने जो यह अभिनय कराया है, उसमें मेरे पाँच हजार रुपए खर्च हुए हैं । मुझे विश्वास है कि इतने दिनों तक आपने एक क्षण भी विरक्ति का अनुभव न किया होगा ।”

पत्र पढ़कर कुमार ने एक दीर्घ निःश्वास लिया और कहा—
“कुछ भी हो, पर उस युवती में सचमुच अपूर्व लावण्य है ।”

आलोक और तिमिर

अमावस्या के निविड़ अन्धकार में न-जाने किस रहस्यमय अज्ञात प्रदेश से लक्ष्मी का आगमन होता है ? उस समय मिट्टी के बने हुए क्षणभंगुर प्रदीपों से उनका स्वागत किया जाता है । क्षण भर के लिए बड़े-छोटे सभी लोगों के घरों में एक आनन्द की उज्ज्वलता फैल जाती है । फिर घोर अन्धकार छा जाता है । ऐसा जान पड़ता है कि अन्धकार ही एकमात्र चिरन्तन है, अक्षय है, अविनश्वर है, वही एक सत्य है और सब मिथ्या, क्षणिक और अनित्य है । पर प्रकाश कितना ही क्षणिक क्यों न हो हमें उसी से उल्लास होता है, तृप्ति होती है, सन्तोष होता है । वह स्नेह का प्रकाश है, प्रेम की दीप्ति है, आशा का उल्लास है और जीवन की स्फूर्ति है । इसी से सभी उत्सवों में, सभी मंगलमय आयोजनों में, प्रेम-प्रमोद और पूजा के सभी अनुष्ठानों में दीपों की अंजलि दी जाती है । आकाश में झिलमिल-झिलमिल करते हुए प्रदीपों को हम लोग झलमला कहते हैं ।

मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि विवाह के उत्सव में निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचते ही हम लोगों के सामने आम के पत्तों से सजाए हुए पात्र में एक प्रदीप लेकर एक दासी उपस्थित हुई और कहा—झलमला लाई हूँ । वह स्वयं तो पुरस्कार पाकर

चली गई, पर उसके झलमले की वह ज्योति उस घर में प्रमोद की उज्ज्वलता फैलाती रही। कुछ देर के बाद हम लोग तो विवाह-गृह चले गये; वहाँ से जब हम लोग तीन बजे लौटे तब मैंने देखा कि झलमले का तेल बिलकुल कम हो गया है, फिर भी बत्ती स्वयं जलकर, क्षीण ज्योति फैलाती ही जा रही है।

[२]

अपने भतीजे के जन्मोत्सव में मैंने एक विशेष उत्सव अपने घर में देखा। घर के भीतर और बाहर एक बड़ी धूम-सी मच गई थी। आगन्तुकों के कारण पिताजी व्यस्त थे। उसी समय चार-पाँच औरतें घर के भीतर छोटे-छोटे प्रदीप लेकर घुस आईं और उन्हें पिताजी के सम्मुख रख कर कहने लगीं “झलमला”। दिन के प्रकाश में उन दीपों की ज्योति में जो एक कोमल स्निग्ध उज्ज्वलता थी उसमें मुझे वही मधुरिमा प्रतीत हुई जो माता की मंद-स्मृति में है।

[३]

स्कूल के एक छात्र से झगड़ा होने से मैं उदास होकर बरामदे में टहल रहा था। इतने में मैंने देखा कि मुगिया अपने आँचल के नीचे एक प्रदीप लेकर बड़ी भाभी के कमरे की ओर जा रही है। मैंने पूछा—क्योंरी, क्या है? वह बोली—झलमला। मैंने फिर पूछा—इससे क्या होगा? उसने उत्तर दिया—नहीं जानते हो बाबू, आज तुम्हारी बड़ी भाभी पंडितजी की बहू की सखी होकर आई हैं। इसलिए मैं उन्हें झलमला दिखाने जा रही हूँ। तब तो मैं भी किताब फेंक कर घर के

भीतर दौड़ आया। मैं कहने लगा “दीदी थोड़ा सा तेल तो दो।” दीदी ने कहा “जा अभी मैं काम में लगी हूँ।” मैं निराश होकर कमरे में लौट आया। फिर मैं सोचने लगा यह अवसर जाने न देना चाहिए, अच्छी दिल्लगी होगी। मैं इधर-उधर देखने लगा। इतने में मेरी दृष्टि एक मोमबत्ती के टुकड़े पर पड़ी। मैंने उसे उठा लिया और एक दियासलाई का बक्स लेकर भाभी के कमरे की ओर गया। मुझे देख कर भाभी ने पूछा—कैसे आये बाबू ? मैंने बिना उत्तर दिये ही मोमबत्ती के टुकड़े को जला कर उनके सामने रख दिया। भाभी ने पूछा—“यह क्या है ?” मैंने गंभीर स्वर से उत्तर दिया—“झलमला”।

भाभी ने कुछ न कह कर मेरे हाथ पर पाँच रुपये रख दिये। मैं कहने लगा—भाभी, क्या तुम्हारे प्रेम के आलोक का इतना ही मूल्य है ? भाभी ने हँसकर कहा—तो कितना चाहिये ? मैंने कहा—कम से कम एक गिनी। भाभी ने कहा—अच्छा, इस पर लिख दो, मैं अभी देती हूँ। मैंने तुरन्त ही मोमबत्ती के टुकड़े पर लिख दिया मूल्य एक गिनी। भाभी ने गिनी निकाल कर मुझे दे दी और मैं उसे लेकर अपने कमरे में चला आया। कुछ दिनों बाद—गिनी के खर्च हो जाने पर मैं यह घटना बिल्कुल भूल गया।

[४]

आज मुझे कोई भी बालक नहीं कहेगा। मैं स्वयं यह समझता हूँ कि मैं बालक नहीं हूँ, परन्तु मुझमें कब और किस प्रकार भावों का यह परिवर्तन हो गया, मैं स्वयं नहीं समझ

सकता हूँ । मैं तो यह भी नहीं जान सकता कि मैं कैसे इतना बड़ा हो गया हूँ । एक-एक क्षण, एक-एक दिन, एक-एक मास, एक-एक वर्ष कर प्रकृति ने भीतर और बाहर जो परिवर्तन कर दिया, वह इतने अलक्षित रूप से हुआ कि मैं उसे कभी नहीं जान सका । आज मैं अपने अतीत जीवन की कितनी ही बातें सोचा करता हूँ । मुझे कभी आश्चर्य होता है, कभी क्रोध, कभी ग्लानि और कभी हर्ष होता है । पर उन सब भावों के भीतर विस्मय का ही भाव प्रधान होता है । एक-एक कर जो घटनाएँ मेरे जीवन में हुई वे इतनी तुच्छ हैं कि किसी की उन पर दृष्टि नहीं गई । पर यह सच है कि उन्हीं छोटी-मोटी बातों के कारण मेरे अन्तर्जगत् में भावों का जो उत्थान-पतन होता रहा, उसका मुझ पर स्थायी प्रभाव पड़ा है । जो बातें हो गईं वे हो गईं । वे कैसे हो गईं यह भी मैं कह नहीं सकता । पर अब अतीत काल के विषय होने के कारण उन पर मैं अच्छी तरह सोच सकता हूँ । और तब मुझे यही जान पड़ता है कि समझ-बूझ कर मैंने कभी जो काम किये हैं, जिन्हें मैंने अपनी इच्छा से ही प्रेरित होकर किया है, उनके भीतर भी किसी एक अलक्षित शक्ति की अंतःप्रेरणा थी । उसी के कारण मेरे जीवन की गति एक विशेष पथ पर निबद्ध रही । मैं उसी एक पथ पर चलता ही रहा । पर उस समय मैं बालक ही था । स्कूल में पढ़ता था । मेरे कितने ही साथी थे । उनके साथ मैं खेलता था । खेल-कूद, मार-पीट, आमोद-प्रमोद में ही मेरा जीवन व्यतीत हुआ । अपनी समझ में मैं स्वच्छंदतापूर्वक समय-यापन कर रहा था । मास्टरों का मन और गुरुओं की भर्त्सना होने

पर भी मैं वही करता जो मेरे मन में होता । जब इच्छा होती तभी मैं पढ़ता था, जब सोचता था कि बाहर जाऊँ तभी मैं दूसरों के साथ बाहर जाता था । मन में एक गौरव की आकांक्षा अवश्य थी । मैं यह चाहता अवश्य था कि मेरे साथी मुझमें किसी भी प्रकार का गौरव देखें । हमारे लोगों से भी मैं किसी न किसी प्रकार की प्रतिष्ठा चाहता था । यह कामना मुझमें भी थी कि सभी लोग मेरी प्रशंसा करें । किसी की भी कोई कटूक्ति मैं सुनना नहीं चाहता था । मैं सभी का आदर-पात्र और स्नेहपात्र बनना चाहता था । स्नेह और आदर पाने की इच्छा ने मुझसे सभ प्रकार के काम कराये । जिसे लोग बुरा कहेंगे उसे भी मैंने यदि किया है, तो इसी भाव से कि मैं किसी का स्नेह या आदर-पात्र हो जाऊँ । जिनके संपर्क में हम लोग रहते हैं, जिनके बीच हम लोगों का जीवन व्यतीत होता है, जिनके साथ हम लोग रहते हैं, उन्हीं का स्नेह या आदर पाने के लिये हम लोग प्रयत्न करते हैं । जिनसे जितनी ही घनिष्ठता हो जाती है, उनसे उतना ही अधिक हम आदर-पूर्ण व्यवहार चाहते हैं । हम कभी यह नहीं चाहते कि हमारे साथी यह समझें कि हममें किसी भी प्रकार की हीनता या दीनता है । इसीसे उनको तुष्ट करने के लिये हम किसी भी प्रकार का संकोच नहीं करते । बाल्यकाल में कितने ही झगड़े ऐसे होते हैं, जिनसे हम लोगों का अपना कोई सम्बन्ध नहीं रहता । किसी लड़के के साथ झगड़ा हो गया पर हम लोग उनमें से किसी का पक्ष लेकर स्वयं झगड़ पड़ते थे । हम कितने ही तरह का उत्पात करते थे; बखेड़ा करते थे । पर उससे कुछ

लाभ नहीं होता था। गुरुजनों के द्वारा जो-जो काम निषिद्ध होते थे उनको हम लोग जान-बूझकर करते थे। किसी एक प्रकार के अनुशासन या नियम तोड़ने में जो एक प्रकार का आनन्द आता था उसके मूल में भी गौरव की यही भावना काम करती थी कि हमारे साथी हमें यह समझेंगे कि हम भी कुछ हैं। बड़ों के हाथ में सिर्फ खिलौने नहीं हैं। हम भी अपना अस्तित्व रखते हैं। अपने घर के बड़े लोगों से छिपाकर कोई भी काम करने में साहस का भाव पाते हैं। बात चाहे छोटी हो या बड़ी। पर उसके भीतर एक निर्भीकता, एक साहस, एक उद्वेगता, एक उच्छ्रंखलता, एक स्वच्छन्दता होनी चाहिये। नदी हम लोगों के लिये स्पृहणीय थी। अपने साथियों में वही सबसे अधिक गौरव का पात्र हो जाता था, जिसमें यह स्वच्छन्दता सबसे अधिक थी। छात्र-जीवन में हम जो-कुछ देखते या सुनते हैं उसको हम उसी रूप से ग्रहण नहीं करते। उसमें हम मन के कुछ भाव भी मिला लेते हैं। जो कुछ होता रहता है उसमें कुछ रस नहीं होता। रस की सृष्टि तो हमें अपनी ओर से करनी पड़ती है। वह हमारे मन का प्रयास है। इसी प्रयास पर आनन्द निर्भर रहता है। स्कूल में छात्रों का जीवन बड़ा ही नीरस रहता है। उसमें न तो कोई नवीनता रहती है, न कोई विचित्रता। फिर भी जो लोग छात्र-जीवन का सुख हाँकते हैं वे कुछ झूठ नहीं कहते। छात्र-जीवन सुखद होता है, क्योंकि उस समय मन की गति खूब स्वच्छन्द रहती है। उसमें जैसी क्षिप्रता होती है वैसी तीव्रता भी। इसीलिये जहाँ सुख नहीं है वहाँ वह सुखों की सृष्टि कर लेता है। घण्टी बजती है।

हम लोग प्रार्थना के लिये एकत्र होते हैं। प्रार्थना के बाद हम लोग अपनी-अपनी कक्षा में चले जाते हैं। - एक-एक कर मास्टर आते हैं और पढ़ाकर चले जाते हैं। फिर छुट्टी हो जाती है। कुछ खेलने-कूदने के बाद जब घर लौटते हैं तब स्कूल में दिये हुए निर्दिष्ट कार्यों की हमें चिंता रहती है। रात में थोड़ा-बहुत काम कर हम सो जाते हैं। सुबह होते ही हम काम में लग जाते हैं। वर्ष भर काम करने के बाद परीक्षा होती है। उसीसे हम लोगों के कार्य की सफलता या विफलता का निर्णय होता है। किसी तरह सात-आठ वर्ष स्कूल में व्यतीत कर, जब हम लोग स्कूल से बाहर आते हैं तब एक स्वच्छन्दता का अनुभव करते हैं। हमें एक उल्लास होता है, हमें मुक्ति के आनन्द का अनुभव होता है। थोड़े दिनों बाद जब हम संसार के कार्य में प्रविष्ट होते हैं, तब कार्यों का जो दुर्वह भार हमें उठाना पड़ता है उसके कारण हम लोग मस्त हो जाते हैं। उस समय हमें कोई अवकाश नहीं मिलता। हम लोगों की सृजन शक्ति आप से आप विलुप्त हो जाती है। हमें यथार्थ जगत् की सच्ची कठोरता का अनुभव होता है।

हम कोई भी बात ऐसी नहीं बना सकते, जिससे नीरस जीवन में किसी प्रकार का रस आ जाय। बातें बनाने का समय ही चला जाता है।

इसी तरह कितने कार्य करते-करते एक दिन हमारा बाल्य-काल समाप्त हो जाता है। यह तरुणावस्था आ गई, पर वह कब आ गई यह मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। वह इतने अज्ञात रूप से आई कि उसके लिए कोई भी समय

कोई भा दिन निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता । पर उससे हम लोगों का कार्यक्रम सर्वथा परिवर्तित हो गया । हम लोग कुछ और ही हो गये । हम लोगों की इच्छाएँ कुछ दूसरी ही हो गई । हम लोगों के ढंग कुछ मिल ही गये ।

[५]

आठ वर्ष व्यतीत हो गये । मैं बी० ए०, एल-एल० बी० होकर इलाहाबाद से घर लौटा । घर की वैसी दशा न थी जैसी आठ वर्ष पहले थी । न भाभी थीं और न मुगिया दासी ही । भाभी हम लोगों को छोड़ कर स्वर्ग चली गई थीं । मुगिया कटंगी में खेती करती थी । संध्या का समय था । मैं अपने कमरे में बैठे न-जाने क्या सोच रहा था । पास ही कमरे में पड़ोस की कुछ स्त्रियों के साथ दीदी बैठी थी । कुछ बातें हो रही थीं । इतने में मैंने सुना, दीदी किसी स्त्री से कह रही है, “कुछ भी हो बहन मेरी बड़ी बहू घर की लक्ष्मी थी ।”

उस स्त्री ने कहा—“हाँ बहन खूब याद आई । मैं तुमसे पूछनेवाली थी । उस दिन तुमने मेरे पास सखी का सन्दूक भेजा था न ?” दीदी ने उत्तर दिया, “हाँ बहन बहू कह गई थी कि उसे रोहिणी को दे देना ।” उस स्त्री ने कहा—“उसमें सब तो ठीक था परन्तु एक बात विचित्र थी ।” दीदी ने पूछा—“कैसी विचित्र बात ?” वह कहने लगी—“उसे मैंने खोलकर देखा तो उसमें एक जगह खूब हिफाजत से एक रेशमी रुमाल मिला । मैं सोचने लगी यह क्या है । कौतूहलवश उसे खोल कर मैंने देखा । बहन कहो तो उसमें क्या रहा होगा ?” दीदी ने उत्तर

दिया—“गहना रहा होगा ।” उसने हँसकर कहा—“नहीं उसमें अधजली मोमबत्ती का टुकड़ा था और उस पर लिखा था—“मूल्य एक गिनी” । उसकी यह बात सुनकर मैं विस्मित हो गया । सखी के प्रति उसके विशुद्ध स्नेह की जिस उज्ज्वल ज्योति की सृष्टि में उसने मोमबत्ती के उस लुट्ट टुकड़े को इतने आदर से रक्खा था उसी सखी ने उसे केवल कौतूहल के भाव से देखा । यदि उस टुकड़े की जगह कोई गहना होता तो शायद उसकी सखी उसे आदर देती और उसका मूल्य स्वीकार करती । संसार में क्या एकमात्र अर्थ के कारण ही मूल्य निर्दिष्ट होता है ? क्या एकमात्र स्वार्थ-भाव से ही प्रेरित होकर हम स्नेह का लेन-देन किया करते हैं ? क्या कहीं स्नेह से विशुद्ध ज्योति प्रज्वलित नहीं होती ? जिस सखी को उसने अपने अक्षय स्नेह-स्मारक मोमबत्ती के टुकड़े की भेंट कर दी थी वह सचमुच उसकी गरिमा न समझ सकी । उसे उस अपनी सखी की अन्तिम भेंट को रखने का अधिकार नहीं था । इन्हीं भावों के उद्वेग में क्षण भर के लिये मैं ज्ञान-शून्य हो गया । फिर अपने हृदय के आवेग को न रोक कर उस कमरे में घुस गया और चिल्लाकर कहने लगा—“वह मेरी है मुझे दे दो ।” कुछ स्त्रियाँ मुझे देखकर भागने लगीं । कुछ इधर-उधर देखने लगीं । उस स्त्री ने अपना सिर ढाँकते-ढाँकते कहा—“अच्छा बाबू मैं कल उसे भेज दूँगी ।” पर मैंने रात को एक दासी भेजकर उस टुकड़े को मँगवा लिया । उस दिन मुझसे कुछ नहीं खाया गया ।

पूछे जाने पर मैंने यह कह कर टाल दिया कि सिर में दर्द है । बड़ी देर तक मैं इधर-उधर टहलता रहा । जब सब सो

गये तब मैं अपने कमरे में आया । मुझे उदास देखकर कमला पूछने लगी—“सिर का दर्द कैसा है ?” पर मैंने कुछ उत्तर न दिया । चुपचाप जेब से मोमबत्ती को निकालकर जलाया और उसे एक कोने में रख दिया ।

कमला ने पूछा—“यह क्या है ?”

मैंने उत्तर दिया—“झलमला ।”

कमला कुछ न समझ सकी । मैंने देखा कि थोड़ी देर में मेरे झलमले का लुद्र आलोक रात्रि के अनन्त अन्धकार में विलीन हो गया ।

कल्पना और सत्य

विपिन की छात्रावस्था ज्ञान की साधना में ही व्यतीत हुई। वह जानता था कि छात्रों के जीवन में तपस्या का ही भाव रहना चाहिये। ज्ञान के क्षेत्र में जो आनन्द है उसीको एकमात्र लक्ष्य बनाकर हमें अपना जीवन सरल और अकृत्रिम बनाना चाहिये। चित्त की एकाग्रता, भावों की विशुद्धि, निश्छल अनुराग और सच्ची स्फूर्ति यही हम सबके लिये आवश्यक है। पर उनके विकास के लिये आजकल जो कृत्रिम उपाय प्रचारित हो रहे हैं, वे सभी उनके लिये बाधक हो रहे हैं। ज्ञान को लोकप्रिय और मनोरम करने के लिये, अथवा विद्या के पथ को सुगम तथा निष्कण्टक बनाने के लिये ज्यों-ज्यों चेष्टा की जा रही है; त्यों-त्यों छात्रों का बौद्धिक ह्रास होता जा रहा है। छात्र-जीवन में ज्ञान साधन नहीं, साध्य है, एकमात्र वही हमारा लक्ष्य होना चाहिये। परन्तु अब हम स्कूलों और कालेजों में जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसे अपने जीवन-निर्वाह का एक साधन मात्र मानकर ग्रहण करते हैं। कभी धर्म को भी लोकप्रिय बनाने की चेष्टा की गई। उसके लिये जितने ही सहज पथ निकाले गये उतना ही अधिक लोगों में नैतिक ह्रास हुआ। प्राचीनकाल में धर्म की जो व्यवस्था थी—वह बड़ी उग्र थी,

वह धर्म तपस्या द्वारा सुलभ था। भक्ति और प्रेम का पथ भी विकट था। पर धीरे-धीरे धर्म के सभी भाव शिथिल हो गये। लोग धर्म को बन्धन समझ कर सामाजिक स्वतंत्रता के साथ-साथ नैतिक स्वच्छन्दता भी स्वीकार करने लगे। यही कारण है कि जिन देशों में सभी प्रकार से सामाजिक स्वतंत्रता प्राप्त है; वहाँ यथेष्ट दुराचार है। यही नहीं, वहाँ दुराचार अपनी अंतिम अवस्था तक पहुँच गया है। हम लोग आजकल ज्ञान के क्षेत्र को एकमात्र उपयोगिता की दृष्टि से देखने लगे हैं। यही कारण है कि हम लोग कम से कम परिश्रम के द्वारा अधिक से अधिक विद्या-लाभ करना चाहते हैं। आजकल साधारण ज्ञान के लिये लोग व्यग्र हो गये हैं। साधारण ज्ञान के लिये यह प्रयास उच्च मानसिक विकास का सूचक नहीं है। सत्य को छोड़कर तथ्यों को जान लेने से ज्ञान की सच्ची वृद्धि नहीं हो सकती। उससे विवेचना शक्ति नहीं बढ़ती। जीवन में क्या लाभप्रद है; और क्या हानिकर है यह संसार के क्षेत्र में प्रविष्ट होकर हम अपने अनुभव से ही जान पाते हैं। शिक्षा का सच्चा उद्देश्य तो मानसिक शक्ति का विकास है। जिस ज्ञान से मन उन्नत नहीं हुआ, हृदय में आनन्द की वृद्धि नहीं हुई, उच्च और उदार भाव नहीं आया, वह शिक्षा व्यर्थ ही है। जीवन-निर्वाह के लिये हमें कुछ न कुछ विशेष बातें जाननी पड़ती हैं। उनकी शिक्षा आवश्यक ही है। पर एकमात्र व्यवसाय के विचार से ही ज्ञान को ग्रहण नहीं करना चाहिये। ज्ञान पवित्र वस्तु है। उसीसे हमें सच्चा आनन्द होता है। उसीसे हमें जीवन की सच्ची सार्थकता ज्ञात होती है। वह हमारा

अंतिम ध्येय है, वह हमारा अंतिम लक्ष्य है। इसीलिये विपिन ज्ञान के साधना-पथ से कभी विचलित नहीं हुआ। पर जीवन के उस प्रभात काल में सभी के हृदय में एक अज्ञात लालसा भी उत्पन्न होती है। संसार हम सब लोगों को केवल रहस्यमय नहीं प्रतीत होता, वह लीलामय भी लक्षित होता है। तारुण्य-काल के आविर्भाव से उसके भी मन में एक लालसा-सी, उत्सुकता-सी, चंचलता-सी प्रगट होने लगी। कभी-कभी उसे अपने सहपाठियों के वार्तालाप तथा अपने परिचित व्यक्तियों के व्यवहार से एक ऐसे रहस्यमय देश का आभास मिलता था, जो तरुणों के लिये निषिद्ध था। यह तो साधारण बात है कि तरुणावस्था में उन्हीं कार्यों को करने के लिये एक तीव्र लालसा होती है, जो हम लोगों के लिये निषिद्ध हो जाते हैं। उस समय अवरोध या विरोध स्फूर्ति ला देता है। बात साधारण ही क्यों न हो ? पर ज्यों ही उस पर किसी प्रकार का आवरण डाल दिया जाता है, तब आप से आप वह रहस्यमयी होकर सभी के लिये एक महत्त्व ग्रहण कर लेती है। जो हमारी दृष्टि को आकृष्ट नहीं कर सकता वही आवरण से आच्छन्न होकर हमारी उत्कंठा और कौतूहल को बढ़ा देता है। अपने हृदय की उस अज्ञात लालसा के संबंध में वह स्वयं कुछ नहीं जान सकता था। पर वह एक ऐसी कामना थी, जो उसे कल्पना के मायालोक में आपसे आप ले जाती थी। यही कारण है कि उपन्यास के जगत् में वह आप ही आप विचरण करने लगा। यह बात नहीं है कि अपने मन के सुकोमल भावों के लिये तरुण बाह्य जगत् में कोई भी सामग्री प्राप्त नहीं कर सकते हैं। परन्तु

उससे उन लोगों की कल्पना को एक प्रेरणा ही मिलती है। कभी विद्यालय कठोर तपश्चर्या और उग्र साधनाओं का स्थान रहा हो, कभी ऐसे विद्यालयों के छात्र अपनी ज्ञान-लिप्सा के कारण जटाजूटधारी बनकर बल्कल वस्त्र धारण करते रहे हों, कभी उनके लिये नारी का दर्शन मात्र ही कठोर प्रायश्चित्त का कारण रहा हो, परन्तु अब तो विद्यालयों की अवस्था में बड़ा परिवर्तन हो गया है। सह-शिक्षा का प्रचार होने से सभी स्कूलों में कन्याओं की संख्या में यथेष्ट वृद्धि हो गई है। यह बात तो ज्ञान-लिप्सु सभी छात्रों को स्वीकार करनी पड़ेगी कि उन कन्याओं के आगमन के पहिले उनके छात्र-जीवन में जो एक शुष्कता रहती थी, वह अब नहीं रही। उसमें एक सरसता आ गई है। यह बात नहीं है कि जो लड़कियाँ स्कूल में पढ़ने आती हैं, उनसे पहिले उनका कोई परिचय ही नहीं था, किन्तु परिचित होने पर भी पहिले उनके प्रति उसका एक उपेक्षाभाव ही रहता था। शिक्षा के क्षेत्र में तो वे सर्वथा अगण्य थीं। विपिन कभी यह कल्पना भी नहीं करता था कि कभी उनके प्रति भी उसमें प्रतिस्पर्धा का भाव हो सकता है। उसके लिये तो वे सब दयापात्र थीं। बाजार, दूकान, मंदिर या घाट में कितनी छोटी-बड़ी लड़कियों को वह प्रतिदिन देखता रहता था; परन्तु उनकी ओर उसका कोई विशेष आकर्षण नहीं होता था। उसे यही प्रतीत होता था कि उनका संसार उसके संसार से सर्वथा पृथक् है। इसीसे पहले किसी में रूप की असाधारणता होने पर भी वह दूर से ही उसे देख कर रह जाता था, और वह उसके लिये एक अज्ञात नायिका की तरह अनधिगम्य रहती

थी । पर स्कूल में कन्याओं के प्रवेश के साथ ही सभी उसके इतने समीप आ गयीं कि उसकी चित्तवृत्ति पर उनका प्रभाव पड़ने लगा । चित्तवृत्ति पर तभी प्रभाव पड़ता है, जब न कोई बहुत दूर ही हो और न अत्यन्त निकट, न सुलभ ही हो और न दुर्लभ, न परिचित ही हो और न अपरिचित । अब भी लड़कियाँ उनसे पृथक् ही रहती हैं । क्लास में उन लोगों के लिये अलग स्थान रहता है । स्कूल में उनके बैठने के लिये एक पृथक् ही कमरा रहता है । वे लोग उनसे बातचीत नहीं कर सकते । वे उनसे मिल नहीं सकते । पर सभी तरुण अपने मन में यह अनुभव अवश्य करते हैं कि हम उनके अत्यन्त समीप हैं । क्लास के भीतर प्रविष्ट होते ही उनकी दृष्टि सबसे महिला उन्हीं पर जाती है । पढ़ने के समय वे अपने पाठों पर अवश्य ध्यान देते हैं, पर किसी भी समय में वे क्षण भर के लिये भी लड़कियों के अस्तित्व को भूल नहीं जाते । यही कारण है कि स्कूल में शिक्षा के साथ-साथ उन लोगों के हृदय में एक अपूर्व रस की सृष्टि होने लगती है । यथार्थ जगत् में उन लोगों की चाहे जो स्थिति हो पर अपने कल्पना जगत् में वे सभी लोग एक नायक बन जाते हैं । तब वे सब अपने अनुकूल नायिका को पाने के लिये अपने ढंग से प्रयत्न भी करते हैं । कथाओं में प्रसिद्ध है कि अपनी नायिका का प्रेम पाने के लिये उसके हृदय पर आधिपत्य स्थापित करने के लिये, नायक को सात समुद्र पार कर किसी दुर्गम स्थान में जाना पड़ता था । वहाँ वह कितनी ही भीषण स्थितियों को अतिक्रमण करता था । पथ पर उसे कितने ही संकट झेलने पड़ते थे । एक से एक भयानक

शत्रुओं के साथ उसे लड़ना पड़ता था। वह बड़ी कठिनता से उस दुर्ग में प्रविष्ट होता था, जहाँ राजकन्या किसी भयानक दैत्य के आधिपत्य में बन्दिनी होकर रहती थी। नायक में शक्ति और साहस रहने पर भी इतना साधन नहीं रहता था कि वह एकमात्र अपने ही बल से उस भयानक दैत्य पर विजय प्राप्त कर सके। परन्तु उसको पराजित करने के लिये कोई अज्ञात शक्ति प्रेरित करती थी। उसी अलक्षित शक्ति की प्रेरणा से वह दैत्य को सर्वथा पराभूत कर राजकन्या को बन्धन-मुक्त करता था। राजकन्या उसके गले में जयमाला डाल देती थी और वह राजकन्या को एक विजयी वीर की तरह प्राप्त कर अक्षय कीर्ति भी प्राप्त कर लेता था। किन्तु आधुनिक युग में दैत्य या दानव का अस्तित्व सम्भव नहीं है। नायक को नायिका से मिलने के लिये सात समुद्र भी नहीं पार करना पड़ता। पर यह बात सच है कि उसे पग-पग पर कितनी ही कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता है। सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है। कथाओं का राजकुमार विश्वास की यह दृढ़ता लेकर दुर्ग में प्रविष्ट होता था कि राजकन्या के समक्ष होते ही वह उसके रूप और गुण पर स्वयं उसके गले में अवश्य जयमाला डाल देगी। पर आधुनिक युग की राजकन्या का मनोभाव इतना सरल नहीं है। उसमें जटिलता है, उसका प्रेम-भाव इतने स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं हो सकता। कोई दृढ़तापूर्वक यह विश्वास नहीं कर सकता कि वह अपनी नायिका का सचमुच प्रेमपात्र है। इसीसे हृदय में इच्छा होने पर भी वह मिलन की बाधाओं को अतिक्रमण करने का साहस सहसा नहीं

कर सकता । यदि कभी किसी ने दुःसाहस कर किसी प्रकार किसी नायिका के पास कोई पत्र पहुँचा भी दिया तो संभव है कि हेडमास्टर या प्रिंसिपल के पास वह पत्र पहुँच जाय और तब कोई भी अलक्षित शक्ति उसे सहायता नहीं करेगी । तब उसे लांछन, अपमान और तिरस्कार के साथ कठोर दण्ड भी सहना पड़ेगा । नायिका के प्रेम-राज्य से तो वह बिलकुल बहिष्कृत हो जायगा । अपने प्रेम का यह पुरस्कार पाने को आशंका के कारण कितने ही नवयुवकों का चित्त सदैव दोलायमान रहता है । उनके लिये कोई विशेष प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं होता । यहाँ उसे प्राचीन काल के राजकुमार की तरह किसी भयानक दैत्य के विरोध या शत्रुता का भय नहीं रहता । यही नहीं, एक ही भाव से प्रेरित होने पर भी भिन्न-भिन्न नवयुवकों में प्रतिद्वन्द्विता के स्थान में मैत्री का भाव आ जाता है । सब का ध्येय यही रहता है कि किसी भी प्रकार किसी राजकन्या के हृदय पर आधिपत्य स्थापित कर लिया जाय । यदि किसी ने उसमें जरा भी सफलता प्राप्त कर ली तो वह अपने सहपाठियों के बीच में एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेता है । गौरव-प्राप्ति की यह आकांक्षा सभी में रहती है । इसीलिये विफल मनोरथ होने पर भी कितने ही नवयुवक प्रेम-विजय की कथा स्वयं ही गढ़ लेते हैं । कितने ही लड़के किसी विशेष नायिका की ओर से स्वयं पत्र लिखकर या किसी से लिखा कर अपने मोह को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करते हैं । किन्तु यदि सच पूछा जाय तो छात्रावस्था में जो प्रेम की भावना उत्पन्न होती है उसमें न कर्तव्य का उत्तरदायित्व या भार रहता है और न मोह का ही

कोई स्थायी जाल । वह प्रेम तो एक खेल ही होता है । उसमें खेल का हो परिहास और विनोद रहता है । और खेल को ही तरह उसमें क्षणिकता रहती है । खेल के मैदान में तरुणों को क्षण भर जो विनोद होता है, जो स्फूर्ति होती है, जो एक प्रतिस्पर्धा होती है, जो एक उल्लास होता है वही सब भाव वे लोग प्रेम के इस खेल में भी पाते हैं । अपने बाह्य जगत् में प्रेम को खेल समझ लेने पर भी सभी तरुण साहित्य जगत् में प्रेम का गौरव अवश्य स्वीकार करते हैं । साहित्य में प्रेम की कितनी ही गाथायें अक्षय हो गई हैं । प्राचीन काल से लेकर आज तक सभी कवियों ने प्रेम को ही लेकर काव्यों, नाटकों और उपन्यासों की रचना की है । उसमें प्रेम का जो आदर्श है, जो महिमा है, जो उल्लास है उसको अपने बाह्य जीवन में न पाकर भी वे उसे कल्पना के मायालोक में पा जाते हैं । सभी के जीवन का प्रभात काल कल्पना के मधुर मायालोक में ही व्यतीत होता है । पर संसार के यथार्थ जीवन में प्रविष्ट होते ही हमें मध्याह्न काल के प्रखर प्रकाश के साथ संताप का भी अनुभव होने लगता है । विपिन का भी जीवन-प्रभात व्यतीत हुआ । साहित्य के जगत् से वह भी यथार्थ जगत् में आ गया । ज्ञान की ज्योति ने कल्पना की ज्योत्स्ना को हतप्रभ कर दिया । क्रीड़ा का स्थान कर्म ने ले लिया । संसार लीलाभूमि न होकर रंगभूमि हो गया । कर्तव्य की गुरुता के साथ, आत्मगौरव का भी भाव प्रबल होने लगा । उसीके साथ चिंताएँ भी उदित होने लगीं; पर तारुण्य के रसोन्माद ने उसको सारी कर्मशक्ति और चिंताओं

को आच्छन्न कर रखा था। उसके भी हृदय में एक अज्ञात नायिका ने अपना स्थान बना लिया था और उसीके कारण वह स्वयं एक नायक बन गया था। बाह्य जगत् के कर्मक्षेत्र में व्यस्त रहकर भी उसके लिये उसके अन्तर्जगत् की भावनायें उपेक्षणीय नहीं थीं। सच तो यह है कि उन्हीं अस्पष्ट और अदृश्य भावनाओं के कारण उसे अपनी बाह्य जगत् में प्रेरणा मिलती थी। आधुनिक उपन्यासों में प्रेम का जो रहस्यमय जगत् निर्मित हुआ है उसमें प्रविष्ट होने के लिये, इसके मन में एक विकलता थी, एक आतुरता थी। उपन्यास का वह जगत् कितना विलक्षण था और कितना मनोहर। संदीप में वासना की कितनी उद्दामता और शक्ति थी, श्रीकान्त की अनुभूति कितनी तीव्र थी। हरिप्रसन्न में कितनी असाधारणता थी। इन सब की नायिकायें भी कितनी असाधारण थीं। विपिन भी यह अनुभव करता था कि प्रेम चिरन्तन है। उसका अन्त नहीं है। समाज के द्वारा उस प्रेम की सीमा संकीर्ण कर देने से वासनाओं का लोप नहीं होता, इसके विपरीत दुराचार की वृद्धि होती है। इसलिये हम लोग प्रेम की स्वच्छन्द गति में बाधा नहीं चाहते। प्रेम के द्वारा जीवन का सच्चा विकास होगा। साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञों ने अभिसारिका की सृष्टि कर प्रेम की इस अलौकिक लीला को एक कला का रूप दे दिया है। यह अभिसार वैवाहिक या सामाजिक प्रेम का फल नहीं है, वह एकमात्र व्यक्तित्व का स्फुरण है। वह है वासना की स्वच्छन्द क्रीड़ा। वासना एक बार उद्दीप्त होकर फिर नहीं बुझती। सारी इच्छायें और सारी चेष्टाएँ उसीमें जाकर लीन हो जाती

हैं। उसमें तृप्ति नहीं है, संतोष नहीं है, उसमें उद्वेग है, क्षोभ है, ताप है, उत्तेजना है और है आत्मविस्मृति। उसमें पड़कर हम धर्म, विवेक, ज्ञान, प्रतिष्ठा, गौरव सभी को भूल जाते हैं। सभी को उस पर हँसते-हँसते न्योछावर कर देते हैं।

इस वासना में सौन्दर्य के प्रति जो एक तीव्र लालसा है, उसमें सदैव अतृप्ति ही रहती है। अतृप्ति ही रहने के कारण वह स्पृहणीय है। विज्ञों ने जिस प्रेम का वर्णन किया है, वह स्वप्न जगत् की रचना है। प्रेम की वह वासना जब जीवन में प्रगट होती है, तब वह अभिसार का ही रूप ग्रहण करती है। अभिसार यथार्थ जगत् की यथार्थ घटना है। विवाह का बन्धन उसे संयत नहीं कर सकता। अभिसार में प्रेम की जो उत्तेजना होती है वह वैवाहिक जीवन में संभव नहीं। हम विवाह करते हैं, जीवन में क्षणिक सुविधा प्राप्त करने के लिये, और प्रेम करते हैं जीवन में अतिर्वचनीय भाव-रस पाने के लिये। मैं तो यह समझता हूँ कि प्रेम-रस स्वच्छन्द अवस्था में ही सम्भव है। इसीसे प्रगतिशील साहित्य के नायक या तो अविवाहित रहते हैं या विवाह कर लेने पर भी विवाह-बन्धन की सर्वथा उपेक्षा करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जो लोग प्रेम के उन्माद में पड़कर अपनी प्रेमिका से विवाह कर लेते हैं, उनसे बढ़कर मूर्ख संसार में कोई दूसरा नहीं है। विवाह करते ही वे प्रेमिका का प्रेम खो बैठते हैं। 'शेष प्रश्न' में मन की इस स्थिति को शरत् बाबू ने लक्षित कराया है। प्रेम मन को स्वच्छन्द गति का फल है। विवाह का बन्धन उसके लिये घातक हो होता है। अभिसार में वही प्रेम-यात्रा होती है।

अभिसार में प्रेम किसी एक में बद्ध नहीं रह सकता । वह सदैव नवीनता ही चाहता है । नवीनता में ही स्फूर्ति आती है । किसी एक के अधिक काल निरत रहने से विरति और ग्लानि हो जाती है । अभिसार के लिये निशाकाल का निभृत निकुंज कवियों के द्वारा निर्मित हुआ है । अभिसार में प्रेम का कभी नग्न-नृत्य नहीं हो सकता । उसकी लीलाएँ सदैव गुप्त रहती हैं । जितना ही रहस्यमय उसका आवरण होगा, उतनी ही अधिक उसमें प्रेम की स्फूर्ति उत्तेजित होगी । अभिसारिका गणिका नहीं है । जो अभिसार-पथ के पथिक हैं, वे गणिका की ओर दृष्टिपात नहीं करते । अभिसार-यात्रा में उहण्डता और सहिष्णुता, उच्छृङ्खलता और संयम, व्यग्रता और धैर्य, निर्भिकता और आशंका का जो एक विलक्षण मेल होता है, वह अन्यत्र संभव नहीं है । अभिसार-पथ के पथिक के हृदय में प्रेम की मृदु तरंगें नहीं उठतीं । उसमें तो वासना की आँधी आती है । वह जीवन को अस्त-व्यस्त कर देती है । वैवाहिक जीवन में शांति है, सुख है, सुस्थिरता है । वहाँ व्यवस्था और नियम है, वहाँ आँधी आती है, वहाँ मलय समीर की मंदगति रहती है । विद्युत् एक क्षण उदित होकर तुरन्त लुप्त हो जाती है । परन्तु उसकी उस क्षणिक ज्योति में कितनी ज्वाला रहती है । कितनी तड़प रहती है, कितनी उग्रता रहती है, वह एक क्षण में कितना विध्वंस कर सकती है । अभिसार में वही वासना की विद्युत् ज्वाला रहती है । अभिसार-पथ का पथिक जान-बूझकर विध्वंस को स्वीकार करता है । निशाकाल के निबिड़ अन्धकार में उसकी अभिसार-यात्रा प्रारम्भ होती है ।

अभिसार-यात्रा में यथार्थ विद्रोह और क्रांति की भावना निहित है। उसमें धर्म की भीरुता नहीं है, समाज का दासत्व नहीं है। लोक-तज्जा की हीनता नहीं है, शिष्ट लोगों की विनय-पूर्ण दीनता और सहिष्णुता नहीं है। उसमें दुस्साहस की प्रचंडता है; उसमें प्राणों का आवेग है, शक्ति की स्फूर्ति और दर्प है और सभी कुछ स्वायत्त कर लेने की अदम्य वासना है। आधुनिक प्रगतिशील साहित्य का नायक अपने प्रवृत्तिजन्य भावों को कृत्रिम सदाचार के आवरण से नहीं ढाँकता है। उसके विद्रोह में उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। इसीसे जो कोई भी इस पथ का पथिक होता है, वह दुराचारी नहीं कहा जा सकता, वह तो सच्चा कलाकार होता है। उसमें एक कलाकार की सहज प्रतिभा रहती है। उसकी दृष्टि मर्मभेदिनी होती है। वह सौन्दर्य की साधना में लिप्त रहता है। वह रूप का उपासक होता है। उसका एक ही लक्ष्य होता है, एक ही ध्येय होता है। किस साहित्य में लैला-मजनू और शीरी-फरहाद के रूप में नायक-नायिकाएँ नहीं हैं। शैली में विभिन्नता होने पर भी भाव वही एक है। समाज उसे चाहे जो कुछ कहे वह उसीको अपने लिये सच्चा पथ समझता है। उसका प्रेम लोक-मर्यादा को अतिक्रमण कर अलौकिक हो जाता है। यह एक अभिसार-यात्रा की सच्ची कथा है। किसी कवि की तरह वह भी यह कह सकता था—

नैरंगे मुहब्बत है। हरराज मेरे दिल का।

चुप हूँ तो हकीकत है। कह दूँ तो फसाना है।

साहित्यशास्त्र में नायिकाओं का वर्णन किया गया है।

‘मैडम वोमेरी’ अथवा ‘आना केरी नीना’ के समान नायिकाएँ सभी देशों के आधुनिक साहित्य में विद्यमान हैं। भारतीय साहित्य में उसने तो रवीन्द्र बाबू के ‘संदीप’ में यथार्थ नायक पाया और ‘माया’ में यथार्थ नायिका। आधुनिक प्रगतिशील साहित्य में उसीकी प्रतिध्वनि है। जैनेन्द्र अथवा अज्ञेयजी के पात्रों में संदीप की ही चित्तवृत्ति किसी न किसी अंश में काम कर रही है। संदीप के चरित्र में रवीन्द्र बाबू ने कामना की जो यथार्थता प्रकट की उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। यह बात बिलकुल सच है कि जिसमें कामना की जितनी ही अधिक प्रबलता रहती है, वह उतना ही अधिक शक्ति के द्वारा संसार को स्वायत्त करना चाहता है। जो लोग अनायास ही सुख या ऐश्वर्य स्वायत्त कर लेते हैं, वे सचमुच हतभाग्य हैं, क्योंकि सुख और ऐश्वर्य की प्राप्ति में जो चेष्टा की जाती है, उसमें प्राणों की एक स्फूर्ति रहती है, जीवन का एक आवेग रहता है, उसीमें यथार्थ आनन्द का भाव रहता है। अनायास ही जो प्राप्त हो जाता है, वह बिलकुल सस्ता होता है। जो सचमुच मूल्यवान है, उसको प्रयास के द्वारा ही प्राप्त करना चाहिये। जिसका मन उद्दाम कामना से युक्त होता है, जो अपनी सारी शक्ति लगाकर, प्राणपण से प्रयत्न करना जानता है, वही सुख का यथार्थ उपभोग कर सकता है। उसके लिये विघ्न अवरोधक नहीं है, विघ्नों से तो उन्हें प्रेरणा मिलती है। उनमें किसी तरह की आशंका या संकोच नहीं रहता। ऐसे ही लोग नायक कहे जा सकते हैं। वही प्रकृति के वर पुत्र हैं। संसार में जो वस्तु स्पृहणीय है, जिन्हें लेने की कामना सब को होती है, जिन्हें

प्राप्त करने के लिये सबके हृदय में लालसा होती है, उनको भिक्षा या याचना के द्वारा प्राप्त करने में पौरुष नहीं है। उन्हें हम अपनी शक्ति से प्राप्त करेंगे। उन्हें हम दूसरों से बलपूर्वक छीन लेंगे। इसीमें शक्ति की यथार्थ परीक्षा है, पौरुष की यथार्थ महिमा है, और इसीमें आनन्द का सच्चा भाव है। इसी कारण किसी वस्तु का यथार्थ मूल्य है। जो लोग पग-पग में संकोच करते हैं, जिनमें लज्जा का भाव रहता है, उनमें सच पूछो तो आत्म-विश्वास को दृढ़ता नहीं रहती। उनकी विनय और शालीनता में भीरुता रहती है। शक्ति होने पर भी वे सर्वथा असमर्थ और अशक्त होते हैं। उनमें कामना की उद्दामता काम नहीं करती। जिनकी प्रचण्ड कामना होती है, जिनकी अदम्य वासना होती है, उनमें लज्जा का भाव नहीं होता। जिसके प्रति उनमें चाह होती है, उसे वे खूब दृढ़ता से चाहते हैं, उसके प्रति उनकी कामना वेग से दौड़ती है। उन्हें अपनी इस कामना के लिये लज्जा नहीं होती, इष्ट वस्तु को ग्रहण करने में उन्हें संकोच नहीं होता। संसार में लोग जिसे लोभ कहते हैं वही उनकी शक्ति को सच्ची प्रेरणा देता है। लोभ के ही कारण वह दूसरों के घरों में संध लगाने में संकोच नहीं करता। अपनी इसी अदम्य वासना के कारण संदीप की चाल कभी व्यर्थ नहीं होती थी। नारियों के हृदय को वशीभूत करने में उसे विलम्ब नहीं लगता था। स्त्रियाँ उसमें एक प्रबल इच्छा की ज्वाला देखती थीं, वे अच्छी तरह समझती थीं कि इस अदम्य वासना में ही संसार की सच्ची आत्मशक्ति विद्यमान है। इसीसे उसकी प्रबल वासना की

प्रचण्ड बाढ़ में स्त्रियाँ अपने को बहा देती थीं। उन्हें यह चिन्ता ही नहीं होती थी कि उस प्रबल बाढ़ में पड़ कर वे मरेंगी या जीवित रह जावेंगी। यही सच्ची शक्ति है। प्रबल वासना की इसी प्रचण्ड शक्ति से स्त्रियों के हृदय पर विजय प्राप्त की जा सकती है। जो एकमात्र सत्य है, उसीकी यह आश्चर्यजनक विजय-यात्रा है। उसके आगे परंपरागत संस्कारों के सभी आवरण एक-एक कर छिन्न-भिन्न होते चले जाते हैं। अन्त में प्रकृति का सच्चा स्वरूप रह जाता है। स्त्री-पुरुष के बीच में जो एक आकर्षण रहता है, उसकी यथार्थता में सन्देह ही नहीं किया जा सकता। समाज कितने ही तरह के अनुशासन और नियम निर्मित कर उस यथार्थ वस्तु को कृत्रिम आवरण में छिपाकर रखने का प्रयत्न करता है। अनन्त प्रकृति के उस चिरन्तन आकर्षण को वह एक लुद्र घर की लुद्र सीमा में बद्ध कर उसको अपने घर की एक साधारण चीज बना बैठा है। परन्तु जिस समय हम लोगों को यथार्थ प्रकृति सत्य का आह्वान सुनकर जाग उठती है, उस समय वह समाज द्वारा निर्मित सभी तर्क, ज्ञान और नीति के नालों को तोड़कर अपने यथार्थ स्थान पर आ खड़ी होती है। उस समय धर्म का कोई भी आदर्श और नीति की कोई भी शृंगला उसे अप्रसर होने में नहीं रोक सकती। यह सच है कि मानवीय प्रकृति में लज्जा, भय, आशंका और संकोच के भाव भी विद्यमान रहते पर उनके कारण सत्य के यथार्थ रस की वृद्धि होती है। उस समय पैर काँपने लगते हैं, शरीर में पुलक छा जाता है। सामने देखने का भी साहस नहीं होता। नायिका का रह-रह

र मुँह फेर लेने में जो एक लज्जा और संकोच का भाव होता है वह मन को हर लेता है। उसकी सभी चेष्टाएँ सत्य रस को उद्दीप्त करती हैं ! परन्तु मनुष्य जो यथार्थ में सत्य : उसीको छिपाकर उसे स्पष्ट जानते और स्वीकार करने के पाय को स्वयं नष्ट करते हैं। जो वासना उसके मन के लिये क्रमात्र यथार्थ है, उसीसे वह लज्जित होता है, उसे वह शैतान की प्रेरणा समझता है और उसको एक बुरा नाम देकर से नष्ट करने का विफल प्रयास करता है। पर वही शैतान र्प का रूप ग्रहण कर स्वर्ग के कान में प्रविष्ट होता है और शयनमा के हृदय में एक अज्ञात लालसा का भाव जागृत कर उसे अन्त में विद्रोह करा ही लेता है। जो सच्चा नायक होता है, वह जिसके लिये कामना करता है, उसको वह अपने तक खींच ही लेता है। वह किसी भी तरह उसको छोड़ता ही है। जो व्यवधान है, जो बाधाएँ हैं, जो नीतिकी मर्यादा है, न सब को वह एक क्षण में नष्ट कर देता है और धूल में मिलाता है। उसीमें आनन्द है और यही यथार्थता का उन्माद-र्ण नृत्य है। उसमें जीवन-मरण, सुख-दुःख, पुण्य-पाप सभी पेक्षणीय हो जाते हैं।

विपिन सोचता—“यह सच है कि अभिसार के पथ में दीप की तरह नायक एक ही लक्ष्य लेकर अग्रसर होता है। समें स्व की मात्रा इतनी अधिक है कि वह पर की चिन्ता नहीं करना चाहता। उसका अपना जो अर्थ है, अपना जो है, उसीकी सिद्धि में वह जीवन की यथार्थ सफलता सम-ता है। वह नायिका के लिये जो मोहजाल निर्मित करता है,

उसमें वह झूठ और सच का विचार नहीं करता । यदि सत्य से उसके इष्ट की सिद्धि होती है, तो वह सत्य का आश्रय लेगा । यदि झूठ से उसका प्रयोजन सफल होता है, तो वह झूठ को स्वीकार करने में संकोच नहीं करेगा । सच तो यह है कि मिथ्या ही उसके पथ में उसे सबसे अधिक सहायक होता है । पर मोह का जो जाल वह दूसरों के लिये निर्मित करता है, उसमें वह स्वयं फँस जाता है । वह यह जरूर सोचता है कि वह आँधी की भाँति सबको छिन्न-भिन्न कर निकल जायगा, उसके मार्ग में कोई भी अवरोधक नहीं होगा, उसे पथ पर क्षण भर भी कोई नहीं रोक सकेगा, पर ऐसा भी समय आता है, जब उसकी वासना की आँधी मन्द हो जाती है, उसका वेग आपसे आप अवरुद्ध हो जाता है । वह स्वयं किसी पुष्प-कलिका के चारों ओर चक्कर लगाने लगता है । फूल के चारों ओर चक्कर लगाना भ्रमर का काम है, आँधी का नहीं । भ्रमर में रसपान की चाहे जितनी लालसा हो, उसमें वह प्रचण्डता और उद्दामता नहीं रहती जो संसार को विनत कर सकती है । वह तो केवल रस का भिन्न होकर एकमात्र रस की कामना से एक दीन याचक की तरह भटकता फिरता है । यही उसकी दुर्बलता है । वह कुटिल हो सकता है, वह नीच हो सकता है, वह शठ हो सकता है, वह धृष्ट हो सकता है, पर वह विजयी वीर की तरह दर्प नहीं कर सकता है । अभि-सार के पथ में जो नायक यात्रा करता है, उसमें एक शिकारी का-सा भाव होना चाहिये । जब तक उसका अभीष्ट सिद्ध नहीं होता, तब तक वह अपने शिकार

के पीछे लगा रहता है। उसमें वह अपनी सारी शक्ति लगा देता है और ज्योंही वह शिकार को प्राप्त कर लेता है, त्योंही वह उसे छोड़ कर किसी अन्य का अनुसरण करने लगता है। यह बात नहीं है कि शिकारी-सी प्रवृत्ति केवल पुरुष में ही रहती है, वह स्त्रियों में भी पाई जाती है। तभी तो बंकिम बाबू की रोहिणी ने सोचा कि सामने आये हुए मृग को देखकर कौन व्याघ्र उसे शर-विद्ध न करेगा ? जीतने योग्य पुरुष को देखकर कौन स्त्री उसे जीतने की इच्छा नहीं करेगी। स्त्रियाँ पुरुषों को जीतती हैं केवल विजय-पताका उड़ाने के लिये। शिकार केवल शिकार के लिये है। उसीमें आनन्द है। यह सच है कि पुरुष की जो नीति होती है, उससे स्त्री की नीति पृथक् होती है। पर दोनों में कला की वही कुशलता रहती है। 'आँख की किरकिरी' में माया ऐसी ही नायिका थी। वह साधारण स्त्री नहीं थी, जो घर में ही शान्तिमय और सुखमय जीवन व्यतीत करने में ही जीवन की सफलता समझती हो, उनके लिये तो माया अनर्थकारिणी स्त्री थी। वह पुरुषों को खिलौना बना सकती थी, वह उनके शांत और सरलतापूर्ण गृह में वासना की प्रचण्ड ज्वाला उद्दीप्त कर सकती थी, जिसमें पतंगों की तरह जलकर भी पुरुष अपना जीवन सार्थक समझता है। 'कुंज' उसके लिये एक साधारण शिकार हो गया। उसने यह समझा कि वह माया को ही अपने मनोरंजन के लिये एक खिलौना बना लेगा। इसीलिये एक बार परिचय हो जाने पर उसने यह सोचा कि उसमें पुरुषोचित गुण का गौरव देखकर माया स्वयं उसके प्रति इतनी आकृष्ट हो जायगी कि किसी न

किसी बहाने से वह स्वयं उससे मिलेगी और उससे बातचीत करेगी। पर माया जानती थी कि पुरुषों पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है। उसने कुंज के प्रति बिलकुल ही उपेक्षा का भाव व्यक्त किया। कुंज ने उसकी उपेक्षा का यह भाव देखकर यह समझा कि इसमें उसका आत्मगौरव हीन हो गया है। इसीलिये उसने पहिले माया से मिलने की इच्छा को दबाने का प्रयत्न किया है, पर इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी व्यग्रता और भी अधिक बढ़ गई। माया की उपेक्षा ने उसको और भी अधिक उत्तेजित कर दिया। परन्तु उपेक्षा का यह भाव इतना अधिक नहीं होना चाहिये कि उसमें विरक्ति का भाव आ जाय, इसीलिये उपेक्षा का भाव रख कर भी माया कुंज के दाम्पत्य-जीवन की लीला में सम्मिलित होने लगी। वह कुंज को प्रतिदिन अपने इसी माया-जाल में जकड़ती और अपने नैन-बाणों से उसे वेधती। पर जब कुंज चला गया, तब माया की वही दशा हुई जो उस शिकारी की होती है, जिसका शिकार किसी तरह उसके लक्ष्य के बाहर निकल जाता है। माया को अपनी अदम्य वासना के लिये कुंज की आवश्यकता थी। उसके न रहने पर वह यह न समझ सकी कि वह अपने विष के बुझे अग्नि-बाणों को और कहाँ चलावेगी ? तब उसने पत्र का आश्रय लिया। अपनी बातें उसने करुणा से लिखवाईं। उस पत्र को पढ़ते ही कुंज के हृदय में एक उन्मादपूर्ण उल्लास पैदा होने लगा। वह वैसा ही उल्लास था जो किसी को सुरापान के उन्माद में प्राप्त होता है। उसने उसको उन्मत्त बना दिया। उसने क्रमशः उसके विवेक को बिलकुल ही लुप्त कर

दिया । पर वह समझ गया कि उसकी यह प्रबल वासना सभी बन्धनों को तोड़कर उसे किस विनाश-पथ की ओर ले जा रही है । उसे ग्लानि होती थी, पश्चात्ताप होता था, पर वह अपनी उस उत्तेजना को दबा नहीं सकता था । इसीलिये जब माया जान-बूझकर उसके सिरहाने बैठकर जब उसका सिर दबाने लगी तब उसका हृदय धड़कने लगा । तब कुंज को यह ज्ञात हुआ कि माया के असीम जगत् में वह आनन्द के चिरंतन श्रोत में पड़कर बह चला है । उसकी जीवन-तरणि वासना की प्रचण्ड तरंगों में पड़कर अब किसी लक्ष्यहीन दिशा की ओर बहने लगी है । माया के कोमल स्पर्श से कुंज का सारा शरीर काँप उठा और वह किसी तरह उससे रक्षा पाने के लिये अपनी सारी शक्ति लगा, वहाँ से भाग खड़ा हुआ । माया को उससे वही आनन्द प्राप्त हुआ, जो एक शिकारी को हो सकता है । वह अच्छी तरह जानती थी कि कुंज के लिये अब भाग खड़ा होना संभव नहीं । अब वह बिलकुल उसीके वशीभूत हो गया है । कुंज ने यह समझा कि वह अब प्रेम-पथ का पथिक हो गया है । उसके लिये अब प्रेम ही धर्म है । अपने प्रेम के कल्पित गौरव में इतना अधिक उन्मत्त हो गया कि अपने को बुरा समझकर वह एक गर्व का अनुभव करने लगा । यही उसकी दुर्बलता थी । विहारी उससे कहीं अधिक निपुण था; उसने माया को पहिचान लिया । उसने जान लिया कि माया के समान नायिका किस प्रकार वशीभूत की जा सकती है । पहले माया की आँखों में उसने जिन कौतुकपूर्ण तीक्ष्ण कटाक्षों को देखकर उसके सम्बन्ध में सन्देह किया था, उन्हीं उज्ज्वल

श्याम कटाक्षों में उसने एक अपूर्व ज्योति देखी । फिर उसे ज्ञात हुआ कि बाहर से विलासिनी होने पर भी माया भीतर से पूजा में निरत एक तपस्विनी की तरह है । उसको विजित करने के लिये भाव की एक उच्चता चाहिये । माया ने कुंज को वशीभूत कर उसको तिरस्कृत कर दिया पर बिहारी से तिरस्कृत होकर वह उसके चरणों की दासी बन गई । विपिन ने २३ वर्ष की अवस्था तक ऐसे कितने ही उपन्यास पढ़ डाले । औपन्यासिक जगत् से वह पूर्ण परिचित हो गया । औपन्यासिक प्रेम की सभी स्थितियों को वह जान गया । पर उसे विशेष मुग्ध किया एक साधारण उपन्यास ने । उस उपन्यास का नाम था 'प्रियतमा' । प्रियतमा की नायिका ने उसके हृदय पर अक्षय प्रभाव डाल दिया था । उसके हृदय-पट पर उसकी एक कल्पित प्रतिमा-सी अंकित हो गई थी । वह किसी भी अवस्था में उस प्रतिमा को नहीं भूल सकता था । उसने निश्चय कर लिया था कि जो उसको हृदयेश्वरी होगी, जो उसकी पत्नी होगी, जो उसकी प्रियतमा होगी वह उसी कल्पित प्रतिमा के अनुकूल होगी । 'प्रियतमा' की नायिका का नाम था किशोरी । वह भी अपनी किशोरी के लिये सदैव चिंतित रहता था । किस गाँव में वह किशोरी होगी, कहाँ वह अपना बाल्य-जीवन व्यतीत करती होगी, किन सखियों के साथ वह अपने अज्ञात-अपरिचित हृदयेश की बातें करती होगी ? इन्हीं बातों की कल्पना वह अपने मन में प्रायः किया करता था । उसका कोई ऐसा साथी नहीं था, जिसे वह अपने हृदय की इस गुप्त बात को कह सके । वह किसीसे यह बात करना भी नहीं चाहता था । वह

जानता था कि मन की व्यथा को मन ही में छिपा रखना अच्छा है । क्योंकि सुनकर उसे कोई सहायता तो देगा नहीं, उपहास ही करेगा ।

विपिन को संसार के क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त करने की कोई विशेष लालसा नहीं थी । वह जानता था कि जीवन निर्वाह के लिये जो साधन चाहिये, वह उसके पास है । विशेष प्रतिष्ठा और मान के लिये व्यग्र होना वह एक प्रकार का मोह समझता था । तब भी वह अपने हृदय में शून्यता का अनुभव करता था । और उसी शून्यता को दूर करने के लिये उसे कोई उपाय नहीं सूझता था । उसकी माता के पास उसके विवाह के प्रस्ताव आते थे । माता पुत्र के बी. ए. पढ़ लेने के बाद बधू लाने के लिये व्यग्र हो रही थी । पर विपिन ने एम. ए. की पढ़ाई का बहाना कर अपना विवाह स्थगित कर दिया था । वह पढ़ाई भी अब पूर्ण हो चुकी थी । इस वर्ष वह एम. ए. की फायनल परीक्षा में बैठनेवाला था । यह निश्चय था कि ज्योंही वह परीक्षा देकर घर लौटेगा, त्योंही उसका विवाह होगा । पर विवाह किससे होगा ? क्या उसकी कल्पित प्रियतमा उसके अनुकूल होगी । यदि वह वैसी नहीं हुई तो उसका सारा जीवन दुःखमय हो जायगा इसलिये वह खूब सोच-विचार कर विवाह के सम्बन्ध में पढ़ना चाहता था ।

उसकी प्रियतमा अभी तक अज्ञात थी । २३ वर्ष की अवस्था हो चुकी थी, परन्तु उसे न तो गांव में कोई किशोरी मिली और न कालेज में यात्रा करते समय रेल के कम्पार्टमेंट में अथवा

घूमते समय नदी के तट पर भी उसका दर्शन नहीं हुआ। वर्षा काल की किसी भयानक रात में जब घोर वर्षा हो रही हो चारों ओर विकट अंधेरा हो तब किसी अपरिचित गांव की अपरिचित कुटी में किसी अपरिचित युवती से भेंट हो ऐसा सौभाग्य भी उसे प्राप्त नहीं हुआ। कालेज में सह-शिक्षा का प्रचार होने पर भी किसी तरह ने उसकी ओर प्रेम-पूर्ण दृष्टि नहीं डाली। घर में पढ़ते समय पड़ोस के किसी गवाक्ष से दो चंचल नेत्रों को अपनी ओर ताकते भी उसने नहीं देखा। किसी भी युवती से उसका प्रेम-संभाषण नहीं हुआ। उपन्यासों में एक-एक युवक पर दो-दो बहिनें न्योछावर हो चुकी हैं, यही नहीं सभी स्थानों में और सभी अवस्थाओं में उसे प्रेमिकाएँ मिल जाती हैं। परन्तु विपिन को रूप, विद्या, और यौवन होने पर भी कोई ऐसी प्रेमिका नहीं मिली। शरत् बाबू की सावित्री अथवा राजलक्ष्मी की तरह पतित स्त्रियों में भी विशुद्ध प्रेम का परिचय मिलता है। उन्हें भी प्रेमद्वारा बशीभूत करने में कम गौरव नहीं है। वेश्या के उद्धार में देश और समाज का कल्याण है और साथ ही प्रेम की विजय है। प्रगतिशील साहित्य के नायकों के प्रति आदर का मान रखकर भी न जाने क्यों विपिन का उधर कभी साहस नहीं हुआ। वह न तो पर स्त्री का प्रेम-भाजन बनना चाहता था, न अछूत कन्या का न वेश्या का। इसीलिये वह चिन्तित रहता था।

विपिन कमरे में बैठा हुआ अपने भविष्य-जीवन की बातें मोच रहा था। उसी समय उसका एक मित्र आया। इसका नाम

था गोपाल । वह उसका सहपाठी था । उसने विपिन को निमंत्रण दिया । गोपाल के घर में एक प्रीति-भोज का आयोजन किया गया था । गोपाल के कई इष्ट मित्र निमंत्रित हुए थे । विपिन गोपाल के अनुरोध को नहीं टाल सका । वह उसके साथ उसके घर गया । वहीं उसने सबसे पहिले नलिनी को देखा । नलिनी स्थानीय कालेज में पढ़ती थी । गोपाल की बहिन सुमित्रा से उसकी बड़ी मैत्री थी । वह डाक्टर रामशरणराय की एक मात्र कन्या थी । सुमित्रा ने ही उसको विपिन से परिचित कराया । एक ही घंटे कि बातचीत से विपिन नलिनी पर मुग्ध हो गया । उसने देखा नलिनी में जैसा रूप है वैसा गुण भी है । उसके हृदय में सहानु-भूति है, ममता है और स्नेह है । वह शिक्षित है, उसे अपने कर्तव्य का ज्ञान है । वह सभी बातों को अच्छी तरह समझती है । उसे देखकर उसे ऐसा जान पड़ा मानो अचला आ गई हो । उसमें वही तेज था, वही सुकुमारता थी, वही लावण्य था और वही गंभीरता थी ।

परन्तु नलिनी के गुण-दोषों की विवेचना करने से तो उसके हृदय में प्रेम की भावना उपस्थित नहीं हो सकती । विपिन यह अच्छी तरह जानता था कि प्रेम वह भावना है, जिसके द्वारा मनुष्य अपना सर्वस्व समर्पण सहर्ष कर देता है । क्या प्रेम के मूल में त्याग है ? त्याग से ही तो प्रेम की यथार्थ परीक्षा होती है । यह कौन कह सकता है कि स्वयं विपिन ही नलिनी के लिये अपना सर्वस्व छोड़ देगा ? यह जानना तो और भी कठिन

है कि नलिनी उसके लिये सर्वस्व समर्पण कर सकती है या नहीं। यह प्रेम—भावना किस तरह उत्पन्न होती है? विपिन नलिनी के रूप-गुण पर मुग्ध अवश्य हो गया था। वह इतनी बात अवश्य चाहता था कि वह नलिनी के साथ मदैव बातें करे और यह समझे कि नलिनी उसकी है, नलिनी पर उसीका एक मात्र अधिकार है। पर यह चाह क्या प्रेम-भावना कही जा सकती है? मान लो नलिनी इतनी सुन्दर नहीं है, यह भी मान लो कि वह शिक्षित भी नहीं है, क्या विपिन तब भी उसको प्यार कर सकेगा?

इन सब बातों को मोचकर विपिन घबड़ा सा गया वह यह जानने के लिये अधीर हो गया कि यथार्थ जगत् में प्रेम क्या है और वह किस तरह प्राप्त किया जा सकता है? उसने अभी तक जितने उपन्यास पढ़े थे; उन सभी उपन्यासों की घटनाओं को वह मन में एक बार दुहराता गया। सभी उपन्यासों में उमने यही बात पाई कि नायिका नायक के लिये ही स्वयं ब्रह्म देव के द्वारा बनाई गई थी। वह अपने नायक की प्रतीक्षा में बैठी थी। संसार के अन्य पुरुषों का प्रभाव उसपर पड़ ही नहीं सकता था। उ्योंही नायक से उसका साक्षात्कार हुआ त्योंही आकाश में विद्युत् की चमक की तरह उसके हृदय पट पर प्रियतम का रूप अंकित हो गया। मिलन में बाधाएँ अवश्य हुईं, कई विघ्न हुए, कई संकट आये पर जिसका जिस पर सत्य स्नेह है, उसका उसीके साथ संयोग हुआ। यह संयोग कितना सुखपूर्ण था। उसमें चिन्ता नहीं, दुःख नहीं,

त्रास नहीं। यही सच है कि किसी किसी उपन्यासकार ने अपनी नायिका के मनोभावों-का विश्लेषण कर उनके प्रेम में इर्ष्या, क्रोध आशंका, सहिष्णुता, सन्देह, अस्थिरता आदि छोटे छोटे भावों का भी चित्रण किया है। कितनों ने यह प्रदर्शित किया है कि नायिका का यथार्थ प्रेम पात्र उसका स्वामी न हो सका। यह कोई निश्चित बात नहीं है कि स्त्री का प्रेम-पात्र उसका स्वामी ही हो। प्रेम तो हृदय की वस्तु है, वह हृदय में ही जागृत होती है। विवाह अथवा अन्य किसी संस्कार के द्वारा प्रेम लाया नहीं जा सकता। ऐसी अवस्था में नायिका के हृदय में प्रेम उद्दाम हो जाता है। वह प्रचण्ड हो उठता है। वह समाज के बन्धनों को तोड़कर समाज की मर्यादा का अतिक्रमण कर अपने आपमें ही सार्थकता प्राप्त करता है। जीवन का अन्त चाहे सुखमय हो या दुःखमय, प्रेम की सफलता ऐसे उपन्यासों में सफल अवश्य हो गई है। प्रेम के लिये नायक अथवा नायिका ने सब कुछ त्याग दिया है।

विपिन सोचने लगा कि कहीं 'देवदास' की तरह उसका प्रेम किमी ऐसी युवती पर हो गया जो किसी अन्य की स्त्री हो तो उसकी क्या दशा होगी ? इसके विपरीत कहीं उसीकी स्त्री का प्रेम पात्र कोई दूसरा पुरुष हो जाय तो उसकी क्या अवस्था होगी ? वह नलिनी से यदि प्रेम करने लगे और भाग्य की अनुकूलता से यदि नलिनी से ही उसका विवाह हो जाय, तो भी क्या यह बात हृदय-पूर्वक कही जा सकती है कि वही नलिनी

का प्रेम-प्रात्र है ? संभव है कि किसी अन्य पुरुष से उसका प्रेम हाँ और जाति, धर्म और स्त्री विशेष के कारण उसका उसके साथ विवाह असम्भव हो । तब नलिनी उससे प्रेम का स्वाँग ही तो करेगी, उसका जीवन प्रेम का एक अभिनय ही तो होगा । यथार्थ प्रेम तो वह हो नहीं सकता । सचमुच नलिनी तो 'अचला' हो सकती है पर यदि वह स्वयं 'महिम' न हुआ तो ? ऐसे प्रेम-शून्य जीवन से लाभ ही क्या ?

विपिन का मस्तिष्क इन चिंताओं से चक्कर खाने लगा । वह अधीर होकर अपने कमरे में टहलने लगा । इसके हृदय में प्रियतमा का रूप अंकित है वह तो कल्पना लोक की है । यथार्थ लोक में वह कहाँ होगी । एक-एक कर वह कितनी नवयुवतियों के हृदयों की परिक्षा करता फिरेगा । वह कैसे जान सकेगा कि उसके प्रति किसका सच्चा प्रेम है । परन्तु उसने यह निश्चित किया है कि वह नलिनी से अपनी घनिष्टता स्थापित करेगा । वह उसके घर में प्रतिदिन जायेगा । क्रमशः बातचीतकर वह जान लेगा कि नलिनी उसको किस दृष्टि से देखती है । परन्तु सबसे पहले कठिनाई इस बात की हुई कि वह किस बहाने से उसके घर में प्रविष्ट हो । नलिनी गोपाल की बहिन सुमित्रा से अवश्य परिचित थी । सुमित्रा उसके घर अवश्य जाती थी पर वह सुमित्रा को यह कैसे कहे कि वह उसे भी अपने साथ ले जाय । नलिनी न तो अपना 'पर्स' कहीं भूल गई और न अपनी कोई किताब, नहीं तो उसी को लेकर वह उसके घर चला जाता । 'एक्सीडेंट'

होने की भी सम्भावना नहीं है। वह तो उपन्यासकारों के मस्तिष्क की उपज है। यह तो संभव नहीं कि वह नाब में से कूद कर नदी में डूबती हुई नलिनी को बचा ले, या घर में आग लग जाने पर वह जलते हुए कमरे में घुसकर नलिनी को उठाकर ले जाय, या दो मोटरों के बीच में दबती हुई नलिनी को तेजी से दौड़कर खींच ले। एक तो कभी ऐसा अवसर आने का नहीं और यदि कभी भगवान् न करे, ऐसा अवसर आ जाय तो वह अपनी चेष्टा में अपने ही प्राण खो बैठेगा। मृत्यु के बाद लोग उसकी वीरता की प्रशंसा करें या न करें, यह तो निश्चित है कि वह अपनी प्रियतमा से हाथ धो बैठेगा। तब क्या उपाय किया जाय ?

किसी-किसी नायक ने अपनी प्रियतमा का प्रेम प्राप्त करने के लिये अथवा प्रेम की परीक्षा करने लिये उसीके यहाँ नौकरी कर ली है। कोई रसोइया बन गया, माली बन गया और कोई चौकीदार हो गया। किसी-किसी ने नायिका के छोटे भाई को पढ़ा कर नायिका के हृदय पर अधिकार कर लिया, किसीने तो नायिका के घर में चोरी ही करके उसका हृदय चुरा लिया। पर 'विपिन' के लिये इनमें से एक भी बात संभव नहीं थी। उसने सोचा कि मैं एक पत्र ही क्यों न लिख दूँ। प्रेम-पत्र तो सभी नायिकाओं को अच्छे लगते हैं। यह सोचकर वह कागज-कलम लेकर बैठ गया। पहले उसने लिखा हृदयेश्वरी ! फिर उसने काट कर लिखा प्राण बल्लभे, यह भी उसे ठीक न जँचा। तब उसने उसे भी काटकर लिखा मेरे हृदय की रानी, जब से मैंने तुमको देखा

है तबसे मैं तुम्हारी स्मृति के मूले में झूल रहा हूँ। मुझे शान्ति नहीं है। मेरे हृदय में जो आग धधक रही है उसे तुम भले ही न देख सको पर ब्रजभाषा का कोई भी कवि उसीसे भात पका लेता।

इतना लिख लेने के बाद विपिन की कलम रुक गई। वह फिर सोचने लगा कि अब क्या लिखा जाय।

वह उसी उलझन में पड़ा था कि गोपाल ने आकर कहा- 'चलो, आज मैं तुम्हें नलिनी के घर ले चलूँ। उसका निमंत्रण आया है। और उसने तुमको भी बड़े आग्रह से बुलाया है।'

यह सुनकर विपिन चांकत हो गया। उसे यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि वह किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा है। नलिनी से उसका सम्बन्ध होना निश्चित है, वह भाग्यद्वारा निर्दिष्ट है। तभी तो यह बात हुई है।

वह तुरन्त ही कपड़े पहिनकर गोपाल के साथ गया। नलिनी के पिता डॉक्टर रामशरणराय ने विपिन का परिचय पाकर बड़ी प्रसन्नता प्रगट की। उन्होंने यह भी बतलाया कि वह विपिन के पिता से अच्छी तरह परिचित है। तुरन्त ही विपिन पर उनका वात्सल्य-भाव दृढ़ हो गया। रामशरणराय की धर्मपत्नी ने उसका बड़े प्रेम से स्वागत किया। नलिनी ने भी अच्छी तरह उससे बातचीत की।

विपिन के लिये अब यह कठिनता न रह गई कि वह नलिनी के घर में किस तरह आ-जा सके। डॉक्टर रामशरणराय और

उनकी पत्नी दोनों ने उससे आने के लिये अनुरोध किया, और उस दिन से विपिन बराबर आने लगा। वह सबसे इतना परिचित हो गया कि मानो वह उसी घर का ही एक व्यक्ति है। परन्तु स्वयं नलिनी उसके लिये एक पहेली ही थी। वह यह जान ही नहीं सका कि नलिनी उसे किस दृष्टि से देखती है। कभी-कभी ऐसा अवसर आता था, जब वह नलिनी के साथ बिलकुल अकेले ही कमरे में रह जाता था। वह उस समय अपने हृदय की बात कहना चाहता था, पर उसे कुछ भी कहने का साहस न होता था। वह इधर-उधर का अनर्गल बात कहने लग जाता था। नलिनी ऐसी अवस्था में कुछ आश्चर्य की दृष्टि से देखने लगती। तब वह और भी अधिक घबड़ा जाता था। कई बार प्रयत्न करने पर भी नलिनी से वह अपने प्रेम की बात नहीं कह सका। पर इसमें सन्देह नहीं कि उसके घर में उसका आधिपत्य-सा हो गया।

तब तक परीक्षा भी समाप्त हो गई। विपिन की माँ ने उसे लिखा कि वह अपने बहन के घर जा रही है। वहीं उसने अपने विपिन को बुलाया था क्योंकि वह उसीके साथ अपने घर लौट आना चाहती थी। माँ का पत्र पाकर विपिन ने नलिनी को बतलाया कि वह कल रामनगर चला जायगा। उसने सोचा था कि नलिनी यह समाचार सुनकर कुछ उदास होगी, परन्तु नलिनी ने साधरण भाव से पूछा 'क्या आपको वहाँ विशेष काम है?' विपिन ने उसको बतलाया कि उसकी माँ वहीं अपने बहन के घर गई है। जब डॉक्टर रामशरणराय और उनकी पत्नी ने यह

समाचार सुना तब दोनों ने एक प्रकार की व्यग्रता प्रकट की। उनकी बातचीत से यह प्रकट हुआ कि दोनों यही चाहते थे कि बिपिन वहाँ कुछ दिन और रहे। दूसरे दिन जाते समय उसने नलिनी से एक बार और भेंट की। उसे ऐसा ज्ञान पड़ा कि नलिनी कुछ अन्यमनस्कसी हो रही है। उसने कुछ कम्पित स्वर में उससे पूछा—‘आप कब तक लौटेंगे?’ बिपिन के मन में एक उल्हास-सा हुआ। उसने कहा ‘कुछ दिनों के बाद मैं आऊँगा। उसने नलिनी को पत्र लिखने का भी आग्रह किया इसके बाद वह गाड़ी में बैठ गया। जब गाड़ी रवाना हुई तब उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि नलिनी ने एक दीर्घ निश्वास-सा लिया।

बिपिन को विश्वास हो गया कि नलिनी के हृदय में इसके प्रति गंभीर प्रेम है। स्टेशन पर गोपाल से भी भेंट हो गई। वह भी कहीं जा रहा था। दोनों एक ही कम्पार्टमेंट में बैठे थे। गाड़ी छूटने पर बिपिन से न रहा गया। उससे अपने प्रेम की जो बात गोपाल से अभी तक छिपा रखी थी उसको स्पष्ट बता दी। गोपाल ने उसकी बातें सुनकर कुछ हँसकर कहा ‘यह बात तो मैं पहले ही से जानता था। मैं तुम्हें यह बतला देना चाहता हूँ कि नलिनी ने पहले ही दिन तुम्हारा परिचय प्राप्त होने पर सुमित्रा से देर तक तुम्हारे ही सम्बन्ध में बातें की और उसने बड़े आग्रह से तुमको अपने घर में लाने के लिये मुझको कहा था। गोपाल की ये बातें सुनकर बिपिन को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने गोपाल से पूछा—‘परन्तु क्या डाक्टर साहब मुझसे अपनी

लड़की का विवाह करना स्वीकार करेंगे ? ' गोपाल ने कहा—
 'तुमसे अच्छा वर वे अपनी कन्या के लिये पा नहीं सकते। सच तो यह है कि यह उनका अहोभाग्य है कि वे तुमको अपनी कन्या दें। तुम शायद यह जानते नहीं होगे कि डाक्टर साहब का कुल अच्छा नहीं गिना जाता। कितने ही उच्च कुल के लोग उनके घर खाते-पीते नहीं हैं। वे अपनी लड़की के विवाह के लिये चिन्तित भी हैं। कुछ समय पहले उन्होंने एक लड़के को पसन्द किया था, फिर न जाने क्या बात हो गई कि वह सम्बन्ध टूट-सा गया। तुम तो कुल की हीनता पर ध्यान नहीं दोगे न ?

विपिन ने कुछ अभिमान के साथ स्वर में कहा—'मैं ऐसी प्राचीन रीति का पक्षपाती नहीं हूँ। तुम तो जानते थे कि मैं स्वतंत्र विचार का व्यक्ति हूँ और मैं यह भी समझता हूँ कि मेरी माँ मेरी इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं करेगी।'

कुछ समय के बाद विपिन अपने स्टेशन पर उतर गया। जब वह गांव पहुँचा तब चार बज गये थे। गाड़ी से उतरते ही उसने घर के पास १४-१५ वर्ष की लड़की को देखा जो बाहर एक आमबेचनेवाली से कुछ आम ले रही थी। ज्योंही विपिन गाड़ी से उतरा त्योंही उसने उसकी और कौतूहल की दृष्टि से देखा। गाड़ी की आवाज सुनकर घर के भीतर से कुछ लोग बाहर आये। उनमें उनका मौसेरा भाई हरिशंकर भी था। उसने बड़े प्रेम से पास जाकर कहा—'इसी ट्रेन से आये विपिन बाबू ?' फिर उसने उसी लड़की की ओर देख कर कहा—'जा तो

कमला मौसी को बतला दे कि विपिन आ गया ।' इसके बाद विपिन उसके साथ बाहर बैठक में बैठ गया । कुछ ही क्षण के बाद एक दासी आई और इसको उसकी माँ के पास ले गई । जाते समय उसने उसी लड़की को फिर देखा । वह घर के एक कोने में खड़ी थी । अभाग्यवश उसका हैट एक खूंटो में टंगे हुए कपड़े से टकरा कर नीचे गिर पड़ा । इस पर वह लड़की खिल-खिला कर हँस पड़ी । उसने भीतर जाकर किसी औरत को कुछ कहा । और फिर वह हँसने लगी । विपिन ने अपना हैट उठा लिया परन्तु निर्मल स्रोत की कलकल ध्वनि की तरह उस बालिका की मधुर हास्य-ध्वनि से वह कुछ हत-प्रभ-सा हो गया । माँ के पास जाकर उसने उसके पैर छूकर प्रणाम किया । उसकी माँ ने बतलाया कि वह पाँच दिन के बाद घर जायगी । जब विपिन लौटने लगा तब उसे जान पड़ा कि किसीकी दो कौतूहलपूर्ण आंखें एक टक कमरे के दरवाजे से उसकी ओर ताक रही हैं ।

रात को न जाने क्यों विपिन उसी बालिका की बात सोचने लगा । उसकी कितनी सुन्दर आंखें हैं, कितना सरल मुख है, कैसी सरल हास्य-ध्वनि है, उसमें कितनी सुकुमारता के साथ लावण्य है । ऐसी सुन्दरता तो उसने कभी देखी ही नहीं थी । यह सच है कि उसने अच्छे कपड़े नहीं पहिने थे, उसने अपने केश भी नहीं सँवारे थे, वह कुछ अल्हड़सी और चंचलसी प्रतीत होती थी । परन्तु उसका सौंदर्य अपूर्व था । तालाब में खिले हुए स्वच्छ मृणाल की तरह उसका मुख प्रफुल्ल था । मृणाल का

नाम लेते ही उसे मृणालिनी की सुधि आ गई। सचमुच उस बालिका में वही सरलता, वही चंचलता, वही विनोदशीलता और कुछ रूप-माधुर्य है। वह मन ही मन नलिनी से उसकी तुलना करने लगा। और न जाने क्यों सुरक्षित नलिनी उस प्रामीण बालिका से उसे कुछ दीनसी प्रतीत होने लगी। वह अपने ही ऊपर क्रुद्ध होने लगा। वह अपनी ही बुद्धि को दोष देने लगा। वह बार-बार अपने मन में कहने लगा—कहाँ वह नलिनी और कहाँ यह गवारिन लड़की ? मुझे भी क्या हो गया है कि मैं उससे इसकी तुलना कर रहा हूँ।

पांच दिन कट गये। इन पांच दिनों के भीतर उसने कई बार उस लड़की को देखा। जब-जब उसको देखा तब-तब उसका हृदय आपसे आप आकृष्ट हो गया, पर उसने अपने हृदय पर विजय प्राप्त कर ली। अपने मन की अस्थिरता पर उसे क्षोभ हुआ, यह उसके चरित्र की दुर्बलता है, यह उसके प्रेम की परीक्षा है। प्रेम तो एक ही बार किया जा सकता है। उसने बड़ी दृढ़ता से अपने मन की इस भावना को दबा दिया। वह घर जाने के लिये व्यग्र हो गया। तब उसकी माँ ने कहा—‘बेटा, एक बात तुमसे पूछूँ ?’ विपीन ने कहा—‘क्या बात है माँ !’ उसकी माँ कहने लगी—‘मेरी बहिन की एक भतीजी है। वह बेवारी मातृ-हीन है पर वह बड़ी सुन्दर है और सुशील है। मेरी तो यह इच्छा है कि वह मेरी बहू बने। वह भी इसी साल उसका विवाह करना चाहते हैं। मेरी बहिन ने मुझको इसीलिए बुलाया।

भी था। तुमने भी उस लड़की को देख लिया है। उसका नाम कमला है। बताओ तुम्हारी क्या राय है ?'

माँ की ये बातें सुनकर विपिन का हृदय धड़कने लगा। उसका मुँह लाल हो गया। एक अद्भुत उल्लास का भाव उसके मन में हुआ। परन्तु उसने बड़ी कठोरता से अपने इस भाव को दबाकर कहा—'माँ, केवल मैं इसी बात के लिये क्षमा माँगता हूँ। मैं अपनी इच्छा के अनुसार विवाह करूँगा। तुम मुझ पर कुछ मत होना।' उसकी माँ ने कहा—'नहीं बेटा, मैं तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी काम नहीं करना चाहती। उन लोगों ने मुझसे बार-बार कहा, इसीलिये तुम्हारी राय पूछ ली।'

दूसरे दिन वह अपनी माँ के साथ घर लौट आया। एक महीने के बाद उसके पास निमंत्रण आया। मालूम हुआ कि कमला का विवाह किसी दूसरी जगह निश्चित हो गया है। उसी दिन नलिनी का भी पत्र आया कि वह इन्टर की परीक्षा में पास हो गई है और मालूम हुआ कि वह स्वयं एम. ए. की परीक्षा में पास हो गया है। नलिनी के पत्र में एक तरह का आग्रह, अनुरोध का सा भाव था। उसने लिखा था—'यदि आपको अवकाश हो तो आप दो दिनों के लिये अवश्य आइये।' नलिनी के पत्र के कारण उसने अन्य पत्रों की ओर ध्यान ही नहीं दिया। उसने आज्ञा लेकर उसी दिन जाने का निश्चय कर लिया।

दूसरे दिन विपिन जबलपुर पहुँच गया। खा-पीकर और निश्चित होकर वह तीन बजे नलिनी के घर पहुँचा। रामशरणराय

ने उसे देखते ही बड़ी प्रसन्नता के साथ कहा—‘विपिन बाबू, आप ठीक मौके पर आये। हम सब लोग बड़ी व्यग्रता से आपकी राह देखते थे। आपको यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होगी कि नलिनी का विवाह बाबू नन्दकुमार वर्मा से निश्चित हो गया है। और आज इसी उपलक्ष्य में एक छोटासा भोज है।’ डाक्टर साहब की यह बात सुनकर विपिन स्तब्धसा रह गया। क्या उत्तर दे, यह उसे सूझा ही नहीं। परन्तु उसी समय डाक्टर साहब एक निमंत्रित सज्जन का स्वागत करने चले गये। विपिन चुपचाप कुर्सी पर बैठ गया। उसके हृदय में जो भाव उठ रहे थे उसे वही जानता था, परन्तु किसी तरह उसने उन भावों को दबा लिया। उसी समय नलिनी एक युवक के साथ उस कमरे में प्रवीष्ट हुई। विपिन को देखकर वह कुछ चौंकसी पड़ी। उसका मुख लज्जा से कुछ लालसा हो गया। उसने उस युवक को धीरे से कुछ कह कर विपिन से कहा—‘बड़ी दया की विपिन बाबू, आपको मेरा पत्र मिला होगा।’ इसके बाद उसने उस युवक की ओर देखकर कहा—‘ये हैं बाबू विपिन हमारे कालेज के रत्न हैं। मेरे पिता के साथ इनके पिता की घनिष्ठता थी। ये अभी तक उस नाते का निर्वाह करते हैं।’ उस युवक ने विपिन से हाथ मिलाते हुए कहा ‘मुझे आपसे मिलाकर बड़ी प्रसन्नता हुई।’

चार दिन व्यतीत हो गये। विपिन को वहाँ रहना ही पड़ा। नलिनी का विवाह हुआ। चौथे दिन वह अपने कमरे में अन्य-मनस्कसा बैठा था कि गोपाल आया। उसने खूब शिङ्ककर

कहा—‘बाह विपिन भैय्या बाह, तुम तो नलिनी के विवाह में इतने व्यग्र रहे कि तुमने मेरे पत्रों की भी परवाह नहीं की। हम लोग सब तुम्हारी राह कब से देख रहे हैं और यहाँ तुम नलिनी के विवाह में लगे हुए हो। चलो घर चलें, आज ही हम रामनगर चलेंगे, आज ही बारात का प्रस्थान होगा।’ विपिन ने चकित होकर पूछा—‘बारात का प्रस्थान होगा?’ गोपाल ने कहा—‘विवाह करने जा रहा हूँ तो क्या बारात लेकर भी न जाऊँ? तुम्हें क्या यह भी खबर नहीं है कि मेरा विवाह हो रहा है।’ तब विपिन को याद आया कि उसने गोपाल के पत्र में विवाह का चर्चा-सी कुछ पढ़ी थी। उसने अपने मन के भाव को छिपाकर कहा कि—‘वह तो एक महीने बाद होनेवाला था न?’ गोपाल ने कहा—‘नहीं तुमने ‘डेट’ पढ़ने में भूल की। खैर, अब चलो।’

विपिन गोपाल के घर आया। वहाँ उसे सब बातें मालूम हुईं। वहाँ उसने जाना कि कमला का विवाह गोपाल से ही निश्चित हुआ है। तीन दिन के बाद कमला के विवाह में भी सम्मिलित होकर वह कितनी ही बातें साँचता हुआ अपने घर लौटा। इसमें सन्देह नहीं कि वह अंजला को खा बैठा और मृणालिनी को भी, परन्तु यथार्थ में वे दोनों ही उनकी हृदय-स्थित ‘किशोरी’ के अनुरूप थीं भी नहीं। विपिन उनकी ओर आकृष्ट अवश्य हुआ था, परन्तु क्या वह सच्चे प्रेम के भाव से उनकी ओर आकृष्ट हुआ था? सच्चे प्रेम में न संशय रहता है और न आशंका ही रहती है। वह तो गिरिनिर्झर की तरह विपत्ति-

शिलाखंडों को तोड़-फोड़कर अपने लिये राह बना लेता है। सबेरे प्रेम के आवेग में आकर नायिका आँधी तूफान की परवाह न कर, लोकलज्जा को त्यागकर, लोकमर्यादा का अतिक्रमण कर, स्वजनों और परिजनों को छोड़कर चुपचाप अंधेरी रात में अपने नायक के चरणों पर अपना सर्वस्व अर्पित कर देती है। वह है प्रेम की विजय।

प्रेम की वह विजय कब होगी, अथवा होगी या नहीं अथवा केवल कल्पना-प्रसूत है अथवा वह केवल आकस्मिक घटना है। इन्हीं बातों की चिन्ता में विपिन पड़ा रहता था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों अन्य लोगों के सम्पर्क में आकर वह प्रेम के रहस्यागार से अधिक परिचित होने लगा पर सभी लोगों की सभी प्रकार की बातें सुनकर भी वह यह नहीं समझ सकता था कि सचमुच कब किस पर किस कारण से प्रेम की हठात् विजय हो जाती है। क्यों किसीको कोई चुपचाप आत्म-समर्पण कर देता है। मन ही मन वह उस क्षण की कल्पना कर अधीर हो उठता था। पर उसे कोई उपाय नहीं सूझता था। घर में आकर विरक्त की तरह वह अपना जीवन व्यतीत करने लगा। वह एकान्तप्रिय हो गया। अपनी माता से भी वह कम मिलता था।

विपिन की यह दशा देखकर उसकी माँ व्याकुल हो गई। पूछने पर पुत्र कुछ उत्तर ही न देता था। घर में सम्पत्ति थी, पुत्र में विद्या और बुद्धि थी। किसी बात का अभाव नहीं था। तब उसका पुत्र क्यों इतना चिन्तित और उदास रहता है ? माँने एक

दिन अपने एक विश्वासपात्र कर्मचारी को सब बातें बतलाकर उससे सलाह मांगी। उस कर्मचारी का नाम था हरिवल्लभ। हरिवल्लभ कई बार इंट्रेन्स फेल होकर विपिन के यहाँ पांच साल से नौकरी कर रहा था। वह विपिन को अच्छी तरह पहचानता था। वह तो उसका सहपाठी रह चुका था। उसने कहा 'माँ, विपिन का विवाह कर दो।' माँ ने कहा 'विवाह के लिये तो मैं कई बार कह चुकी, पर वह पढ़ा-लिखा लड़का है। अपने ही मत के अनुसार वह विवाह करना चाहता है।' हरिवल्लभ ने हँसकर कहा— 'माँ, आप इसकी फिक्र न कीजिये। आप विपिन भैया से छिपाकर विवाह पक्का कर लीजिये। विवाह कराने का भार मुझ पर है।' माँ ने सहर्ष उसकी बात मान ली। उसने कामताप्रसाद नाम के एक धनी व्यक्ति के यहाँ विवाह पक्का कर लिया। लड़की का नाम था रत्न-माला। वह सुन्दर भी थी और पढ़ी लिखी भी थी। उसका घर था कानपुर में, शहर से पांच मील दूर।

हरिवल्लभ ने बहुत शीघ्र विपिन से दोस्ती कर ली। वह उसका अतरंग मित्र हो गया। पहले वह भी उपन्यास पढ़ा करता था। इसीलिये वह इधर-उधर की यथार्थ बातें जानने का प्रयत्न करने लगा। आखिर एक दिन विपिन ने उसको अपने मन की बात बतला ही दी। सुनकर हरिवल्लभ ने कहा— 'भैया, यही तो यथार्थ विवाह है। हम लोग तो विवाह क्या करते हैं तमाशा करते हैं।' हरिवल्लभ से प्रोत्साहन पाकर विपिन का साहस बढ़ गया। अब दोनों एक साथ रहने लगे, एक साथ घूमने लगे।

दोनों कथा, साहित्य पर विवाद करते, नायक-नायिका के गुण-दोष की विवेचना करते, प्रेम की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की आलोचना करते । कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी बातों में हरिवल्लभ श्रोता रहता था और विपिन वक्ता । एक बार कोई बात छेड़कर हरिवल्लभ चुप हो जाता था और बड़े ध्यान से विपिन के व्याख्यानों को तन्मय होकर सुना करता था । २६ वर्ष की ही अवस्था में विपिन शेक्सपीयर, हार्डी, रवीन्द्रनाथ, शरदचन्द्र आदि कितने ही विश्वविख्यात ग्रन्थकारों की रचनाओं का अध्ययन कर चुका था । अतएव ऐसा भक्त अनुचर पाकर वह अपने हृदय का द्वार खोल देता था । वह अपने ही भाव-जगत् में ऐसा लीन हो जाता था कि उसे यथार्थ जगत् की सुधि ही नहीं रह जाती थी । जब हरिवल्लभ उसे नहाने-धोने, खाने-पीने आदि क्षुद्र कार्यों की सुधि दिलाता तब वह एक लंबी सांस लेकर, एक प्रच्छन्न वेदना भाव व्यक्तकर नित्य कार्यों में लग जाता था ।

दो महीने के बाद हरिवल्लभ ने उससे कृष्णनगर चलने का प्रस्ताव किया । विपिन सहमत हो गया । रवाना होने के समय हरिवल्लभ को कोई आवश्यक काम आ गया । उसने विपिन से कहा—‘आप स्टेशन जाइये । इन्टर क्लास का टिकट लेकर कम्पार्टमेंट में बैठिये । मैं ठीक समय पर आ जाऊंगा । यदि नहीं आ सका तो कृष्णनगर में आपसे अवश्य भेंट कर लूँगा ।’ विपिन अकेला ही स्टेशन पहुँचा । और इन्टर क्लास का टिकट लेकर डब्बे में बैठा । वहाँ १५ वर्ष की कोई लड़की बैठी किताब

पढ़ रही थी। गाड़ी छूटने में कुछ ही देर थी। विपिन भी एक कोने में बैठकर अखबार पढ़ने लगा। उस लड़की ने एक बार विपिन की ओर दृष्टिपात किया और फिर अपनी किताब पढ़ने में व्यस्त हो गई। विपिन ने पढ़ते-पढ़ते कई बार उसको देखा; वह बड़ी सुन्दर थी। उसको ऐसा मालूम पड़ा मानो वह साक्षात् 'किशोरी' हो। किशोरी का भी साक्षात्कार अपने प्रियतम से रेल के डब्बे में हुआ था। वह निस्सहाय होने के कारण अपने उसी अपरिचित प्रियतम की सहायता पाकर अपने तक पहुँच सकी। फिर दोनों में प्रणय दृढ़ हुआ और अन्त में विवाह।

विपिन का हृदय धधकने लगा। अकेली होने पर भी वह लड़की ऐसी निश्चित बैठी थी कि वह निस्सहाय नहीं प्रतीत होती थी। यदि वह निस्सहाय होती, यदि वह व्याकुल होकर विपिन की ओर देखती, यदि वह उसी को एकमात्र अपना संरक्षक समझकर उमी पर आश्रित रहती तो कितना अच्छा होता। इतने में कोई मुसलमान स्त्री सिर से पैर तक बुरका ओढ़कर उसी डब्बे में आकर बैठ गई। सहसा सीटी बजी और गाड़ी रवाना होगई। गाड़ी रवाना होने पर वह लड़की कुछ बबराहट से उठी और बाहर देखने लगी। क्षणभर गाड़ी स्टेशन से दूर आ गई। वह लड़की भीरू हरिणी की तरह इधर-उधर देखने लगी। विपिन ने साहस के साथ पूछा—'क्या आपका कोई साथी स्टेशन में छूट गया ?' उसने बड़े संकोच और आशंका के साथ उत्तर दिया 'जी हाँ, मुझको यहाँ बैठाकर, मेरे मामा न जाने

कहाँ बैठ गये ।’ विपिन ने कहा—‘शायद वे किसी दूसरे छब्बे में हों । आप कहाँ जा रही हैं ?’

उसने सिर झुकाकर उत्तर दिया—‘मैं कृष्णनगर उतरूंगी । इसके बाद मुझे कनकपुर जाना है । वही मेरा घर है । बाबू कामताप्रसादजी मेरे पिता हैं । अगर मामा छूट गये हों तो मैं संकट में पड़ जाऊँगी अकेली रात को कहाँ जाऊँगी ?’

विपिन ने कहा—‘आप घबराइये नहीं । मैं भी कृष्णनगर जा रहा हूँ । कृष्णनगर में मेरे मामा गजानन्द बाबू रहते हैं । शायद आप उन्हें जानती हों ।’

लड़की ने कहा—‘जी हाँ, मैं उन्हें जानती हूँ । उनकी लड़की से मेरी मैत्री है ।’

विपिन—‘किससे ? शीला से !’

लड़की ने कहा—‘जी हाँ’ ।

विपिन ने कहा—‘तब तो आपको घबड़ाने की जरूरत नहीं, मैं आपको शीला के यहाँ ही पहुँचा दूँगा ।’ लड़की कुछ निश्चिन्त तो हुई पर उसकी घबराहट दूर नहीं हुई । गाड़ी अगले स्टेशन पर रुकी पर लड़की का कोई मामा नहीं आया । लड़की व्याकुलता से विपिन की ओर देखने लगी । विपिन ने उसे उतारकर लेडीज वेटिंग रूम में बैठाया । फिर कहा—‘आप एक क्षण ठहरिये । मैं अभी सवारी का प्रबन्ध करके आता हूँ ।’ लड़की ने कुछ कम्पित स्वर से कहा—‘जाइये, पर जल्दी आइयेगा ।’ विपिन ने बाहर एक टैक्सी गाड़ी देखी । उसने ले जाना अस्वीकार

कर दिया। पर उसीने बतलाया कि कुछ दूर पर एक दूसरा टैंकसीवाला खड़ा है। विपिन उसीके पास दोड़ता गया। बहुत जल्दी काने पर भी पन्द्रह मिनट लग गये। स्टेशन लौटकर आने पर उसने देखा कि वह लड़की वहाँ नहीं है। वहाँ सिर्फ एक कागज का टुकड़ा पड़ा हुआ है। विपिन ने उसे उठाकर देखा तो वह उसी लड़की का फोटो था। विपिन सोचने लगा कि अब क्या किया जाय ? इतने में हरिवल्लभ वहाँ आ पहुँचा।

विपिन ने तुरन्त ही फोटो को छिपा लिया। हरिवल्लभ ने पूछा—‘अरे भैया, तुम कहाँ चले गये थे। मुझे आने में कुछ देर हो गई। वहाँ आकर देखता हूँ तो तुम्हारा पता भी नहीं।’ विपिन ने उनसे लड़की की बात न जाने क्यों छिपा दी। उन्होंने कहा—‘मैं अभी सवारी खोजने के लिये गया था।’ हरिवल्लभ उसे लेकर वहाँ मामा के घर ले आया। दो दिन बाद वे लोग फिर लौटे। गाड़ी में विपिन ने हरिवल्लभ से कहा—‘हरिवल्लभ बाबू, क्या तुम कनकपुर के कामताप्रसाद को जानते हो ?’

हरिवल्लभ ने कुछ चौंक कर कहा—‘मैं उन्हें खूब अच्छी तरह जानता हूँ। वे तो नाते में मेरे बहनोई लगते हैं। क्यों क्या बात है ?’ विपिन ने तब उस लड़की का सारा हाल कह सुनाया। उसकी बातें सुनकर हरिवल्लभ ने बड़े आश्चर्य से कहा—‘यह तो सचमुच उपन्यास की सी घटना हो गई। तो भैया क्या तुम सचमुच उस लड़की से विवाह करोगे ?’ विपिन ने गंभीरता से कहा—‘उसे छोड़ कर अब मैं किसी से भी विवाह नहीं कर

सकता ।' हरिवल्लभ ने सिर खुजलाते हुए कहा—'भैया यह तो कठिन समस्या हो गई । कामता बाबू तुम्हारे परिवार से कुछ चिढ़े हुए हैं तो भी मैं कोशिश करूँगा । हरिवल्लभ ने बड़ा प्रयत्न किया और उसका प्रयत्न सफल हुआ । शुभ मुहूर्त में विपिन का विवाह हो गया । विपिन का अभीष्ट सिद्ध हुआ । उसे उसके हृदय की नायिका मिल गई ।

कुछ समय के बाद विपिन ने हरिवल्लभ से पूछा—क्यों हरिवल्लभ बाबू, तुम्हीं रत्नमाला के मामा हो ? और तुम्हींने उसको उस दिन रेलगाडी के डब्बे में अकेली छोड़ दिया था ? हरिवल्लभ ने कहा—'हाँ मैं ही तो उसका मामा हूँ, पर वह अकेली कहाँ थी आप तो साथ थे ।' विपिन ने कहा—और तुम स्टेशन पर फिर तुरन्त ही आकर उसे कैसे ले गये ? हरिवल्लभ ने हँसकर कहा—'जान पड़ता है कि आपने बंग-महिला की दुलाईवाली कहानी नहीं पढ़ी है ।' चौंक कर विपिन ने कहा—'अब मैं समझ गया तुम्हीं बुराईवाली मुसलमान स्त्री बने थे । पर तुमने इतना छल क्यों किया ?' हरिवल्लभ ने हँसकर कहा—'क्षमा कीजिये, यदि मैं यह न करता तो आप का जीवन 'प्रियतमा' के लिये भटकते रहता ।'

नरेन्द्र

ज्येष्ठ का सन्ध्याकाल, नदी का निर्जन तट, आम्र-मंजरी के सौरभ से युक्त पवन की मन्द गति, बिहंगों का कलरव, ये सब बातें ऐसी हैं कि किसी भी २४ वर्ष के नवयुवक के हृदय में प्रेम का उल्लास उत्पन्न कर दें। परन्तु जब नरेन्द्र लाल साहब के श्री निकेतन से निकला तब वह एक औत्सुक्यपूर्ण, व्यग्रतापूर्ण आकांक्षा को लेकर बाहर आया। उस दिन लाल साहब के यहां शिवगढ़ के राजकुमार के सत्कार में एक विशेष प्रीतिभोज का आयोजन किया गया था। उसमें वह भी निमंत्रित हुआ था। वहां जाने पर जब राजकुमार से उसका परिचय कराया गया। तब उसे मालूम हुआ कि राजकुमार का भी नाम ठाकुर नरेन्द्रसिंह है। परिचय कराते समय लाल साहब ने हंस कर कहा—‘आप लोगों में केवल नाम का ही सादृश्य नहीं है, रूप का भी सादृश्य है। कहीं ऐसा न हो कि ‘रूडोल्फ रैसिन्डल’ की तरह आप लोग भी किसी घटनाचक्र में पड़ जायें।’ सब लोग इस बात पर हंस पड़े थे। पर प्रीतिभोज के साथ सुरा का और सुग के साथ संगीत का उपभोग कर जब नरेन्द्र बाहर आया तब उसके मस्तिष्क में विभिन्न भावों का एक विस्रव मचा हुआ था। उसके हृदय में क्रोध था, ग्लानि थी,

असन्तोष था, विद्रोह था। उसे अपनी हीनता के कारण अपने नामपर भी लज्जा आने लगी। नाम तो सार्थक है शिवगढ़ के राज-कुमार का। वह सचमुच नरेन्द्र है। उसके पास वैभव है, शक्ति है, अधिकार है। पर वह नाम-मात्र का नरेन्द्र है। वह तो इन सभी बातों में हीन है। पर उसकी इस हीनता का कारण क्या है ? क्या उसमें पौरुष नहीं है, क्या उसमें क्षमता नहीं है, क्या उसमें बुद्धि, योग्यता, और विद्या का अभाव है ? फिर संसार की यह कैसी नीति है ? ईश्वर का यह कैसा न्याय है ? कुल में जन्म लेना तो दैवायत्त बात है। राजकुमार केवल अपनी पैतृक सम्पत्ति के ही कारण उच्च पद पर आरुढ़ हैं। उनमें ऐसी कौन विशेष क्षमता है कि जो नरेन्द्र में नहीं है ? नरेन्द्र उनसे अधिक शिक्षित है और अधिक योग्य। यदि उसे कोई अवसर मिले तो रूडोल्फ रैसिन्डिल की तरह वह भी सचमुच अपनी योग्यता और महत्ता प्रदर्शित कर सकता है, पर ऐसा अवसर उसे मिलना सम्भव नहीं है। रूडोल्फ रैसिन्डिल तो एक लेखक की कल्पना है। संसार की सम्पत्ति और ऐश्वर्य, शक्ति और प्रभुत्व पर कुछ लोगों ने अपना ऐसा आधिपत्य स्थापित कर लिया है कि उसके समान लोग उससे वंचित ही रहते हैं। नरेन्द्र चुपचाप नदी-तट पर बैठ कर यथार्थ जगत् की आलोचना में व्यस्त हो गया। अन्य स्थानों की तरह उसके ग्राम में भी बड़ों का एक समाज है और एक छोटों का। उन दोनों के संसार में बड़ा पार्थक्य है। संसार में जो कुछ स्पृहणीय है, उस पर इन बड़ों का अनायास ही अधिकार हो गया है।

ये बड़े लोग मानों स्वर्ग के देव हैं। स्वर्ग के देव की तरह इनकी अपनी कोई शक्ति नहीं है। केवल स्वर्ग में जन्म पा लेने के कारण वे देव बन गये हैं। शक्ति की परिक्षा में दैत्यों से उनका बारम्बार पराभव हुआ है। फिर भी किसी महादेव की कृपा से देव ही बने रहते हैं। सुरा, संगीत और सौन्दर्य में लिप्त रहकर वे लोग शतरंज के शाह की तरह सदैव शंकित रहते हैं। जो छोटे हैं उनका जीवन तो बड़ों पर निर्भर रहता है। छोटों के लिये सभी एक तरह हैं। सभी की सेवा में वे निरत रहते हैं। सभी को प्रसन्न करने में ही उनके जीवन की सार्थकता है। पर अब एक मध्यम वर्ग का समाज हो गया है, जो यथार्थ में बड़ों का अनुचर वर्ग है। मध्यम श्रेणी के ये लोग सभी बातों में बड़ों का अनुसरण किया करते हैं। यदि दैव-योग से उनको श्री वृद्धि हो गई तो बड़ों के समाज में बैठकर छोटों के प्रति वही अत्यन्त उपेक्षा का भाव प्रकट करते हैं। सच पूछो तो ग्रामदेवों की तरह वे अपने को देवों से भी अधिक पूजा का पात्र समझते हैं, और लोग भी देवों को अपेक्षा ग्रामदेवों से अधिक त्रस्त और भयभात रहते हैं। वे लोग यही समझते हैं कि ग्राम में जो उत्पात होते हैं उनके कारण वे ही उपदेव हैं। अपने पद के क्षुद्र गौरव से उन्मत्त होकर वे केवल अन्याय और अत्याचार करने में ही अपनी महत्ता समझते हैं, इससे लोग उन्हीं की अधिक पूजा करते हैं। जीवन की कृत्रिमता मध्यम-वर्ग के ही समाज में है। अतन्ताप की भावना उसी वर्ग के महत्वाकांक्षी लोगों में है। वहीं गौरव के लिये षडयंत्र होता है

वहीं ज्ञान का प्रदर्शन होता है। वहीं मिथ्या निंदा और मिथ्या स्तुती होती है, वहीं कटु आलोचना होती है। वहीं वैमनस्य और विद्रोह की भावना होती है। अनुकूल स्थिति आने पर कितने ही लोग प्यादे से फरजी हो जाते हैं, तब उनकी चाल टेढ़ी हो जाती है। बड़े तो विलास में लिप्त रहते हैं पर ये लोग मिथ्या गौरव के दर्प में ही लिप्त रहते हैं। बड़ों की कृपा पर जीवित रहकर भी वे अपनी महत्ता को प्रदर्शित करने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। मनुष्य का जीवन शतरंज के खेल जैसा है। सभी अपना स्थान बदलते रहते हैं, सभी शाह के लिये व्यग्र रहते हैं, सभी राह दे कर शाह पर अपना प्रभाव डालकर अपना गौरव स्थापित कर लेना चाहते हैं। कभी ऊंट आगे बढ़ता है तो कभी हाथी आगे बढ़ता है। कभी वजीर को हटा कर घोड़ा ही उमका स्थान ले लेता है। कभी प्यादा ही खड़ा होकर अपनी महत्ता प्रगट करता है। जब जैसा अवसर आता है तब वैसा प्रभुत्व या गौरव का पद किसी को भी मिल जाता है। पर यह कहना सचमुच कठिन है कि कब कौन बड़ा और प्रभुताशाली होता है। और कौन कब छोटा या प्रभाव शून्य हो जाता।

लक्ष्मी चंचला है कि नहीं यह कोई नहीं जानता, पर यह बात तो निश्चित है कि मनुष्य का जीवन जल-प्रवाह की तरह चंचल है। वह कभी रुकता नहीं है। उसमें स्थिरता नहीं है। उसे जिस पथ से जाना है वह उसी पथ से जायगा ही। यदि उसके मार्ग में पहाड़ है तो मार्ग न मिलने पर वह उसे तोड़-फोड़

ढालेगा । जिसे लोग अपना भाग्य कहते हैं वह उनका यह निर्दिष्ट जीवन-पथ ही है ।

नरेन्द्र का भी जीवन-पथ निर्दिष्ट हो गया है । नरेन्द्र के जीवन में अब तक जो लोग आये हैं वे सभी हेय हैं, तुच्छ हैं, नीच हैं । कितनी तुच्छ उनकी भावनाएँ हैं, कितनी नीच उनकी प्रवृत्तियाँ हैं । लालुपता, लंपटता और धूर्तता से उनका यह समाज दूषित हो गया है । व्यभिचार और अनाचार की तो कोई सीमा नहीं है । फिर भी ऐसे लोग अपने महत्व का गर्व करते हैं ।

नरेन्द्र ने एक दीर्घ निश्वास लिया । तो क्या उसका जीवन यों ही व्यतीत हो जायगा ? क्या उसके जीवन में कोई महत्वपूर्ण घटना न होगी ? बड़ों का कृपा-पात्र बनकर उनकी सेवा कर, उनका दासत्व स्वीकार कर अपना जीवन निर्वाह करने में क्या कोई पुरुषार्थ है ? दस घण्टे दफ्तरों में काम कर और फिर दो घण्टे इधर-उधर गप्प मारकर क्या जीवन सरस बनाया जा सकता है ? जीवन में यथार्थ रस कहाँ है, यथार्थ गरिमा कहाँ है, इसी चिन्ता में न जाने कितनी देर तक वह लीन रहा, यह वह स्वयं न जान सका । सूर्यास्त हो गया, अंधकार फैल गया, विहंगों का कलरव बन्द हो गया, चारों ओर निस्तब्धता छा गई पर नरेन्द्र अपनी ही चिन्ता में मग्न था ।

सहसा उसे ऐसा जान पड़ा कि मानों उसे कोई पुकार रहा है—ठाकुर साहब, ठाकुर साहब, ठाकुर नरेन्द्र सिंह साहब । नरेन्द्र सिंह चौंक पड़ा । उसने उठ कर आवाज दी—“कौन है ?

मैं यहां हूं।' दो आदमी उसकी आवाज सुनकर उसके पास आये। एक ने कहा—“लाल साहब के मकान से हम लोग आपका पता लगाते लगाते हैरान हो गये हैं, चलिये !” नरेन्द्र सिंह ने चकित होकर पूछा—‘कहाँ चलना होगा ?’ एक ने कहा—‘यह आप अभी मत पूछिये। मैं सब बातें निश्चिन्त होकर बतलाऊंगा। अभी आप कृपा कर मेरे साथ चले चलिये। वह मोटर खड़ी है।’ नरेन्द्र सिंह को बड़ा आश्चर्य हुआ। किसको आज उसकी इतनी जरूरत हो गई है कि वह इस प्रकार उसको साम्रह बुला रहा है। कुछ कौतूहल और कुछ विस्मय के साथ खड़ा हुआ और उनके साथ गया। सड़क पर एक मोटर खड़ी थी। वह अपरिचित व्यक्ति नरेन्द्र को उसमें सादर बैठाकर स्वयं बैठ गया। उसने इसके बाद अपने साथी दूसरे व्यक्ति से कहा ‘आप को मेरे कारण जो कष्ट हुआ उसके लिये मैं क्षमा मांगता हूं। यदि आप न मिलते तो न जाने मैं कितनी देर तक ठाकुर नरेन्द्र सिंह जी के लिये भटकता फिरता।’ यह कहकर उसने उस व्यक्ति के हाथ में कुछ दिया। इसके बाद मोटर रवाना हुई। नरेन्द्र कुछ देर तक चुपचाप बैठा रहा फिर उसने उस व्यक्ति से पूछा ‘आखिर आप मुझे कहां लिये जा रहे हैं।’ उसने कहा—‘मैं आपको ऐसी जगह ले जा रहा हूं जहां जाने में ही आपको लाभ है।’ नरेन्द्र सिंह ने कहां—‘खैर, लाभ हानि की बात तो आप ही जानते हैं पर जब आपका इतना आग्रह है तब मुझे जाने में आपत्ति नहीं है। पर फिर लाल साहब के यहां मुझे ग्यारह बजे जाना है।

ग्यारह बजे तक हम लोग लौट तो आयेंगे ? यदि नहीं तो कम से कम उन्हें खबर तो भिजवा दीजिये कि नरेन्द्र सिंह नहीं आ सकेंगे, नहीं तो उन्हें बुरा मालूम होगा । वे अपने मन में न जाने क्या समझेंगे ।’ उस व्यक्ति ने कहा—‘आप इसकी चिन्ता मत किजिये । मैंने पहिले ही खबर भिजवा दी है ।’ उन्हीं का नौकर तो मुझे तो आपके पास ले आया था, नहीं तो मैं और भटकता ।’ नरेन्द्र सिंह चुप हो गया । मोटर तेजी के साथ जा रही थी । ऐसा मालूम पड़ता था कि वह ४० मील फी घंटे के हिसाब से जा रही है । वह कुछ सोच नहीं सका, समझ नहीं सका । उसके लिये यह यात्रा अचिन्तनीय थी । एक अज्ञात आशंका से उसका हृदय धड़कने लगा । पर उसमें भय नहीं, तीव्र कौतूहल का ही भाव था । अन्धकार-मय पथ से यह मोटर उसको न जाने किस अज्ञात रहस्यमय प्रदेश को ले जा रही थी । उसका अपरिचित सहचर उसको किस कार्य का गुरुतर भार सौंपने के लिये इतना उद्विग्न और व्यग्र होकर आया है । अभी तक वह अपने नगरवासियों से एक उपेक्षा पूर्ण मान ही पाता आया है । पर आज कोई तो उसकी व्यक्तिगत महत्ता को स्वीकार कर उसको सादर, साम्रह और सोद्वेग ले जा रहा है । इसी प्रकार आशंका और उल्लास, दर्प और कौतूहल से युक्त होकर वह अपने ही विचारों में इतना लीन हो गया कि वह यह भी नहीं जान सका कि वह वह कितनी दूर आ गया । सहसा घर घर कर मोटर रुक गई । उस व्यक्ति ने ड्राइवर से पूछा ‘क्या हुआ’ ? मोटर कैसे रुक

गई ? ड्राइवर ने उत्तर दिया 'टायर फट गया।' मोटर खड़ी कर ड्राइवर नीचे उतरा। इतने में चार आदमी एक दम उन पर झपट पड़े। इन दोनों को उन लोगों ने बांध दिया। इसके बाद उन्होंने नरेन्द्र से कहा—'आप नीचे उतर कर दूसरी मोटर में बैठिये'। नरेन्द्र ने चकित होकर पूछा 'क्यों क्या बात है ?' उसने कहा, 'आपको पता नहीं कितने बड़े संकट में पड़ गये थे। ये लोग आपके शत्रु हैं आपको धोखा देकर ले जा रहे थे।' नरेन्द्र को और भी आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—'मुझे ये लोग क्यों धोखा देकर ले जा रहे थे ?' उसने कहा अभी सब बातें बतलाने का समय नहीं है। अभी एक एक क्षण बहुमूल्य है। समय आने पर हम आपको सब बातें समझा देंगे।' नरेन्द्र विस्मय विमुग्ध होकर उन लोगों के साथ दूसरी मोटर पर जा बैठा। मोटर फिर रवाना हुई। कुछ समय के बाद वह एक विशाल अट्टालिका के भीतर घुसी। वहां भीतर जाकर वह रुकी, वे लोग उतरे और नरेन्द्र को भी उतारा। नरेन्द्र ने देखा कि चारों ओर खूब रोशनी हो रही है। चार पांच व्यक्ति वहां खड़े हुए हैं। उन्हीं में से एक व्यक्ति ने कहा—'चलिये, हम लोग अभी तक आपकी प्रतीक्षा में खड़े थे। रास्ते में कोई दुर्घटना तो नहीं हुई ?' नरेन्द्र के कुछ कहने के पहिले ही जो व्यक्ति उसके साथ आया था, कहने लगा—'दुर्घटना ! शत्रुदल के लोग पहिले ही पहुंच गये थे और इन्हें ले जा रहे थे। मैंने बड़ी कठिनाई से इनका उद्धार किया।' उस व्यक्ति ने कहा—'खैर, अब आप

भीतर चलिये, अधिक विलम्ब मत कीजिये ।’ नरेन्द्र उस व्यक्ति के साथ भीतर गया । वहां उसने देखा कि विवाह का मंडप बना हुआ है । उसके नीचे एक कन्या बैठी हुई है । एक दासी भी उसके पास खड़ी है । उस व्यक्ति ने नरेन्द्र को एक आसन पर बैठा दिया और पंडित को विवाह कराने की आज्ञा दी । नरेन्द्र चकित हो गया—उसने कहा—‘यह क्या हो रहा है, मेरी तो समझ में कुछ नहीं आ रहा है ।’ उस व्यक्ति ने कुछ रुष्ट होकर कहा—‘यह आपकी समझ का दोष है । हम लोग ठाकुर हैं । एक बात निश्चित करने के बाद उसे भंग नहीं करते । आपको इसी कन्या से विवाह करना पड़ेगा । इसीलिए अभी आप चुपचाप मेरी आज्ञा से काम करते जाइये । अभी सोचने समझने का कष्ट मत उठाइये ।’ उसकी दृष्टि कन्या पर गई । वह अपूर्व सुन्दरी थी । वह चुप हो गया । दो घंटे के बाद विवाह समाप्त होने पर दासी बधू को लेकर एक कमरे में गई । नरेन्द्र को एक व्यक्ति दूसरे कमरे में ले गया वहां उसे बैठा कर वह चला गया । नरेन्द्र एकान्त में अपने इस भाग्य-परिवर्तन पर सोचने लगा । प्रेम का यह सौन्दर्यमय जाल भाग्य ने उसके जीवन पथ में किस तरह बिछा दिया । भावों की तरंगें उसके हृदय को आंदोलित कर रही थीं । इतने में बाहर से किसी ने पुकारा—‘आप जरा बाहर तो आइये ।’ नरेन्द्र बाहर आया । वहां उसने उन्हीं दो व्यक्तियों को देखा । वे दोनों उसको एक दूसरे कमरे के भीतर ले गये । वहां एक ने पूछा—‘आपका नाम क्या है ?

नरेन्द्रसिंह ने कहा—‘मेरा नाम ; मेरा नाम नरेन्द्रसिंह है ।’ दूसरे व्यक्ति ने कहा—‘देखिये, पहले ही मैंने कहा था ।’ पहले व्यक्ति ने रुष्ट होकर कहा—‘तुम कुछ नहीं समझते, चुप रहो ।’ इसके बाद उस व्यक्ति ने फिर नरेन्द्र से पूछा—‘क्या आप कभी शिवगढ़ गये हैं ?’ नरेन्द्र ने कहा—‘मैं कभी शिवगढ़ नहीं गया । पर हाँ, शिवगढ़ के राजकुमार को मैं जानता हूँ । लाल साहब के प्रीति-भोज में मैंने उनको देखा था । नरेन्द्र की यह बात सुनकर वह आदमी उठा और अपने साथी के साथ बाहर आया । उसने उस कमरे के दरवाजे को बाहर से बन्द कर दिया । नरेन्द्र कुछ घबड़ा गया । वह भी कुछ शंकिन होकर दरवाजे के पास आ उनकी बातें सुनने लगा । एक ने कहा—‘यह तो बड़ी भूल हुई ।’ राजकुमार के स्थान में हम किसी दूसरे का ले आये और उसका विवाह विमला से कर दिया । अब क्या किया जायगा ?’ दूसरे कहा—‘मेरी समझ में नहीं आता कि तुम लोगों ने ऐसी भूल क्यों की ।’ पहले व्यक्ति ने कहा—‘पर ठाकुर जोरावर सिंह इसी को पकड़ कर अपनी मोटर में ले जा रहे थे ।’ हम लोगों ने ठाकुर जोरावर सिंह से ही इसे छुड़ाया । दूसरे व्यक्ति ने कहा—‘जान पड़ता है कि जोरावर सिंह ने तुम लोगों को खूब चला बनाया । पर अब क्या किया जाय ? लोगों को यह बात मालूम हो जायगी तो बड़ा अनर्थ होगा ।’ पहले व्यक्ति ने कहा—‘यही तो मैं भी सोच रहा हूँ ।’ दूसरे व्यक्ति ने कहा—‘और कोई उपाय नहीं है, इसको अब मार डालना ही पड़ेगा ।’

उसकी ये बातें सुनकर नरेन्द्र कांप उठा। वह चुपचाप दरवाजे से हट कर कमरे में आया। क्षण भर भय ने उसको निश्चेष्ट कर दिया। मृत्यु का भीषण दृश्य उसकी दृष्टि के सामने आ गया। प्रेम की प्रतिमा लुप्त हो गई। सुकोमल भावों की तरंगें न जाने कहाँ विलीन हो गईं। सुख का मोह न जाने कैसे लुप्त हो गया। न जाने कितनी यंत्रणा सहकर उसके प्राण जायँगे। जाँ हत्या के लिये कटिबद्ध है उससे दया के लिये याचना करने से क्या लाभ ! उसने कोई अपराध नहीं किया, किसी का अनिष्ट नहीं सोचा, पर अब न जाने किसके किस दोष से आज उसे मृत्यु का दण्ड झेलना पड़ेगा। ये लोग कौन हैं, ये कितने क्रूर, नृशंस और निर्मम हैं। किस तरह इन हत्यारों से वह अपनी रक्षा करे, यही वह सोचने लगा। उसके पास कोई हथियार नहीं था। बाहर भाग निकलने का कोई साधन भी नहीं था। जिसको उसने प्रेम का जाल समझा था वह तो मृत्यु का जाल हो गया। वह बिलकुल घबड़ा कर भगवान का स्मरण करने लगा। सहसा खट की आवाज हुई। उसने पीछे घूम कर देखा—दीवार में एक दरार सी दिखाई दी। वह विस्मित होकर उसकी ओर देखने लगा। वह दरार क्रमशः बढ़ती गई। तब उसे मालूम हुआ कि उस दीवार में कोई गुप्त दरवाजा है। साहस कर नरेन्द्र आगे बढ़ा। वहाँ उसने उसी युवती को देखा जिससे उसका विवाह हुआ था। उसने ओठ पर उँगली रख कर उसे चुप रहने का इशारा किया और फिर उसने पीछे पीछे आने को कहा। नरेन्द्र

मन्त्र-मुग्ध की तरह उसके पीछे पीछे जाने लगा । कुछ दूर तक जाने के बाद वे दोनों उस दरवाजे को लांघ कर बाहर आये । उस युवती ने कहा—‘अब हम लोग यहाँ से भाग चलें । यहाँ रहने पर वे तुम्हें जरूर मार डालेंगे । उन्होंने धोखे से मेरा विवाह तुम्हारे साथ कर दिया है, पर कुछ भी हो अब तुम मेरे पति हो, अब मैं तुम्हारी रक्षा करूंगी या तुम्हारे साथ प्राण दे दूँगी ।’ फिर दोनों वहाँ से भाग निकले । बड़ी देर तक दोनों नदी के किनारे भागते भागते बहुत दूर तक चले गये । उस युवती ने कहा—‘अभी हमारा संकट दूर नहीं हुआ है वे लोग हम लोगों की खोज करते होंगे । कोई न कोई इधर अवश्य आयगा । अगर किसी तरह हम लोग किसी शहर तक पहुँच जाते तो हम लोगों की प्राण-रक्षा हो जाती । इसीलिये चलो फिर दौड़ें ।’ वे दोनों फिर दौड़े । कुछ दूर दौड़ने के बाद युवती ने कहा—‘देखो, वे लोग आ रहे हैं ।’ नरेन्द्र ने कहा—‘अब क्या किया जाय ? हम लोग तो बिलकुल थक गये हैं । वे लोग हमें पकड़ लेंगे ।’ उस युवती ने कहा—‘मैं तुम्हारी रक्षा अपने प्राण देकर भी करूंगी । बात यह है कि मेरे ही कारण वे तुम्हारा हत्या करना चाहते हैं । यदि मैं ही न रहूँगी तो वे लोग तुम्हें मारेंगे ही क्यों ?’ यह कह कर उसने नरेन्द्र के पैर छूये और फिर एकदम नदी में कूद पड़ी । नरेन्द्र घबड़ा कर चिल्लाने लगा—बचाओ, बचाओ ।

सहसा किसी ने नरेन्द्र को धक्का देकर कहा—‘उठ उल्लू,

बराब पीकर यहाँ पड़ा है । हम लोग तुझे खोजते खोजते हैरान हो गये ।' नरेन्द्र सिंह ने आँख खोल कर देखा कि उसके मित्र हरनाम सिंह और विजय सिंह खड़े हैं । नरेन्द्र सिंह उठ खड़ा हुआ और एक दीर्घ निश्वास लेकर बोला—'अरे तो वह केवल स्वप्न था, बिलकुल मिथ्या । प्रेम का वह उल्लास, भय का वह आतंक, मृत्यु की यह आशंका, त्याग का वह गौरव, सभी कुछ मिथ्या ही था ।' परन्तु उन्हें वह मिथ्या कैसे कह सकता है । ज़िन्दगी तो उन सब का अनुभव अवश्य किया है । वे सब क्षणिक अवश्य थे पर उनके अस्तित्व में वह कैसे सन्देह कर सकता है । इसी तरह संसार के सुख दुःख, यश-अपयश, संयोग-वियोग भी तो अनित्य हैं । व्यतीत हो जाने पर सभी स्वप्न की तरह ज्ञात होता है । कुछ भी हो उसे ऐसा जान पड़ा कि इन कुछ क्षणों में ही उसने जीवन का यथार्थ रस पा लिया ।

निशा-काल

(१)

निशाकाल की निस्तब्धता में मैं अपने कमरे में बैठ कर ये सब बातें लिख रही हूँ । क्यों लिख रही हूँ यह मैं स्वयं नहीं जानती । विज्ञों का तो कथन है कि मन की व्यथा को मन में ही छिपा रखनी चाहिये । क्योंकि दूसरों को बताने से सहानुभूति तो मिलती नहीं, उपहास ही मिलता है । फिर भी मन की बात को किसी तरह व्यक्त न करने से एक घबराहट होने लगती है । यही इच्छा होती है कि किसी एक को भी हम अपने मन की बात कह दें । कुछ लोग सभी के प्रेम और विश्वास के पात्र होते हैं । पर सभी समय सभी लोग प्रेम और विश्वास के पात्र बने नहीं रहते । स्नेह क्षणिक होता है । किसी एक से भी अधिक काल तक स्नेह का सम्बन्ध नहीं बना रहता । मैं यह स्वयं अनुभव कर रही हूँ कि मेरे अपने इस जीवन-पथ में जो एक एक कर आये हैं वे कुछ समय के बाद आपसे आप चले गये । अब उनको भी मैं अपने मन की सच्ची बात बतलाने में शिश्नकती हूँ । परिचय के साथ जैसे स्नेह आता है, उसी प्रकार पृथक् होते ही बला जाता है । इसीसे अब मैं यह सोचती हूँ कि किसी स्नेह

को कुछ न कह कर मैं यहीं अपने मन की सारी बातें लिपि-बद्ध कर दिया करूं। इससे मन को कुछ सान्त्वना मिल जाती है। तुलसीदाजी ने भगवान् को विनय-पत्रिका भेजी थी। मैं तुम्हीं को अपने इस जीवन की बातें सुनाना चाहती हूं अब मेरे लिये तुम अंतर्दामी भी हो।

(२)

मेरा छात्र-जीवन कालेज की क्षुद्र सीमा में अवरुद्ध हो गया है। विद्या का क्षेत्र बड़ा पवित्र माना जाता है और छात्रों का जीवन-काल सबसे अधिक सुखद माना जाता है। जो लोग अपना छात्र-जीवन व्यतीत कर संसार क्षेत्र में प्रविष्ट हो चुके हैं वे अपने अतीत सुख, स्वच्छन्दता और स्फूर्ति की स्मृति में ही एक विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं। सच्ची बात यह है कि अतीतकाल सभी के लिये स्पृहणीय हो जाता है। हम लोग भविष्य की चिन्ता करते हैं और अतीतके लिये एक दीर्घ निश्वास लेते हैं। क्योंकि वर्तमान में हम सब को प्रयासों में व्यस्त रहना पड़ता है। वर्तमान कार्य का काल है। उसमें न तो भविष्य के सुख-स्वप्नों के लिये स्थान है और न अतीत के गौरव की कल्पना के लिये अवसर है। अतीत शैशवकाल की स्मृति या भविष्य-सुखों के स्वप्न से मैं परीक्षा में तो उत्तीर्ण नहीं हो सकूंगी। मुझे तो अभी प्रति दिन परिश्रम करना पड़ता है। भविष्य में मेरे लिये जो सुख और गौरव हो ! अभी तो मुझे तपश्चर्या का सा कष्ट सहना पड़ता है। विद्याध्ययन का काल तपस्या का काल भी

तो समझा जाता है। सुखद हो या दुखद, मुझे तो अभी कुछ समय इसी कालेज में व्यतीत करना होगा।

(३)

ज्ञानार्जन की उग्र तपस्या से मुक्ति-लाभ कर मैं अब अपने गाँव में ग्राम्य जीवन का आनन्द लेने के लिए आ गई हूँ। परिवर्तन में एक नवीनता रहती है। उसी के कारण एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाने पर आनन्द होता है। पर जब नवीनता लुप्त हो जाती है तब आपसे आप विरक्ति होने लगती है। जो सौंदर्य चिर नवीन बना रहता है उसी में एक चिरन्तन आकर्षण भी रहता है। पर अपने ग्राम्य जीवन में मैंने तो सौंदर्य की चिर नवीनता नहीं पाई। यह सच है कि कितने ही विज्ञों ने ग्राम्य जीवन की सरलता, अकृत्रिमता और विशुद्धता की बड़ी प्रशंसा की है। यह भी कहा जाता है कि प्रकृति के इस शान्तिमय और सौंदर्यमय राज्य में रह कर हम लोग नगर के कष्ट, प्रयास, क्षोभ को भूल कर स्वछन्दता के सुखका अनुभव करते हैं। नगरों के विलास में जा ग्लानि होती हैं, उनके ऐश्वर्य-मण्डित प्रासादों में उन्माद के ताण्डव नृत्य से विद्वेष की जो भावना होती है, उनके चीत्कारपूर्ण उद्योगों से जो विरक्ति होती है, उनके बीभत्स दैन्यमय पापों के दृश्यों से जो उग्र प्रतिहिंसा और घृणा होती है, वह ग्राम की सरल और विशुद्ध स्नेह-धारा में आपसे आप विलुप्त हो जाती है। पर इतने दिनों तक यहां रहने के बाद भी मैं यह नहीं जान सकी कि सौंदर्य की यह निधि यहां कहां छिपी है, स्नेह की वह पुनीत धारा यहां कहां

(१०४)

बढ़ रही है, विशुद्धि और शक्ति का वह वातावरण यहाँ कहाँ छुप्त है ? यहाँ दैन्य ने बुभुक्षा रूप धारण कर लिया है । सरलता अज्ञान के कारण पशुता में परिणत हो गई है । मलिनता ने प्रकृति की सारी विभूति को इतना ढाँक दिया है कि हम लोगों को रोगों के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए चिन्ता करनी पड़ती है । यह शान्तिमय वातावरण अवसाद और अकर्मण्यता ला देता है । जीवन की एकरूपता ऐसी शिथिलता ला देती है कि मन में न स्फूर्ति होती है और न उत्साह । मैं प्रतिदिन यही सोचती रहती हूँ कि मैं क्या करूँ ?

(४)

मालती के आ जाने से मेरे जीवन में एक सरलता आ गई है । मालती मेरे बाल्य काल की सखी है । स्कूल में वह मेरे साथ पढ़ती रही है । जब वह मैट्रोकुलेशन क्लास में थी तभी उसका विवाह हो गया और विद्या के क्षेत्र को छोड़कर उसे अन्तःपुर के रहस्यमय क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ा । तो भी उससे मेरा स्नेह-सम्बन्ध बना ही रहा । कितने ही दिनों बाद अब वह अपने पितृ-गृह में आई है । उसके साथ रह कर मैं न विरक्ति का अनुभव करती हूँ और न शून्यता का । मैं खेलती हूँ, हँसती हूँ झगड़ती हूँ, मिलती हूँ, और निरर्थक बातों में ही अपने दिन को व्यतीत कर शान्ति के साथ सो जाती हूँ । जब मैं उसके साथ घूमने जाती हूँ तब हम दोनों एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करती हैं । प्रकृति के सौंदर्य से हम लोगों के हृदय के द्वार खुल जाते हैं । मैं

उसे अपनी मन की बात बतलाती हूँ और वह मुझे अपने हृदय के अन्तस्तल के निगूढ़ भावों को सुनाती है। सूर्यास्त हो जाने के बाद जब अन्धकार बढ़ने लगता है और चारों ओर एक निस्तब्धता फैल जाती है तब हम लोग बातचीत बन्द कर उस निस्तब्धता में अपने अपने कल्पना के रहस्यमय जगत् में लीन हो जाते हैं। उस समय हम लोगों की चित्त-श्रुति कुछ विलक्षण हो जाती है। मन में एक अज्ञात उत्सुकता, लालसा और व्यग्रता सी होने लगती है। एक अकारण उत्कण्ठा, प्रतीक्षा, चाव और विह्वलता से मन में हलचल सी मच जाती है। वह एक ऐसी वेदना उत्पन्न कर देती है जिसमें एक मधुरता रहती है।

(५)

मेरी एक मामी है। मुझ पर उसकी बड़ी ममता है। उन्हीं का पत्र आया है। उनकी इच्छा है कि मैं उनके साथ कुछ दिनों तक रहूँ। वे तीर्थयात्रा भी करेंगी तब मुझे उनके साथ भिन्न-भिन्न स्थानों को जाने का अवसर मिलेगा। मैंने वह पत्र मालती को दिखलाया।

मालती ने कहा—“अच्छी बात तो है; सावित्री की तरह तुम भी सारे देश की परिक्रमा कर अपने लिये कोई सत्यवान चुन लेना।”

मैंने कहा—“सत्यवान तो मिल जावेगा, पर क्या सावित्री की तरह मैं उसे मृत्यु से बचा सकूंगी?”

मेरे इस उत्तर से मालती कुछ लज्जित और उद्विग्न सी हो

गई। उसका उद्वेग देख कर मैंने कहा—“डरो मत, न मैं सावित्री ही हो सकती हूँ और न कोई मेरा सत्यवान ही है। कल्पित अनिष्ट की आशंका से तुम उद्विग्न मत होओ, अभी तो यह भी निश्चित नहीं है कि मुझे पिताजी जाने की अनुमति देंगे।”

(६)

तीर्थयात्रा के बाद मैं अरण्यवास करने के लिये अपनी मामी के गांव में आ गई। बात यह हुई कि प्रति वर्ष इसी समय रानी शिकार के लिये जाया करती है। उनका स्वागत करने और उनके लिये सुव्यवस्था करने के लिये मामी को भी अपने गांव जाना पड़ता है। मेरी मामी के गांव से ही वन की सीमा प्रारम्भ हो जाती है। इसलिये विशेष इच्छा न होने पर भी मामी को लौट आना पड़ा। परीक्षा से मुक्ति पाकर मैं भी कितने ही दिनों से अपनी मामी के सहवास में चिन्ताहीन स्वच्छन्दता के आनन्द का अनुभव कर रही हूँ। इसीलिये विद्याध्ययन के महत् उद्देश्य को स्थगित कर मैं भी उनके साथ घूम रही हूँ।

ग्रामों में सर्वत्र प्रकृति की एक दीनता लक्षित होती है। प्रकृति की यथार्थ विभूति तो बनों में मिलती है। वहां ज्ञात होता है कि प्रकृति का भण्डार अक्षय है। वहां प्रकृति में वैचित्र्य है और चिर नवीनता भी। वहां विस्मय होता है, आतंक होता है, आल्हाद होता है और एक विचित्र शान्ति की अनुभूति होती है। वहां पक्षी अगण्य है और वृक्ष भी अगण्य है। यह सच है कि वन में कितने ही भयानक पशु रहते हैं। परन्तु

उन भयानक पशुओं का निवास-स्थान होने पर भी वनों में ऐसे प्राणी रहते हैं जो सर्वथा अक्षम होते हैं। फिर भी वे वहां स्वच्छन्दता पूर्वक विहार करते हैं। उनमें भय नहीं रहता। भय का हेतु उपस्थित होने पर आत्म-रक्षा का उपाय निकाल ही लेते हैं। मैंने यह देखा है कि जो मनुष्य वन के भीतर रहते हैं, उनमें भी भयानक पशुओं के प्रति भय का भाव नहीं रहता। वे भी बड़ी निर्भीकता और स्वच्छता से वनों में घूमते रहते हैं। पशु, पक्षी और वृक्ष से भी उनमें एक आत्मीयता का भाव आ जाता है। उनमें पशु की सी सरलता और ममता रहती है। दैन्य रहने पर भी उनमें बीभत्सता नहीं रहती है और न असंतोष की उग्रता। यही कारण है कि उनको देख कर मेरे मन में आप से आप उनके प्रति स्नेह का भाव उदित हो जाता है। मैं जबसे यहां आई हूं तबसे अरण्य की इस माया ने मुझको मुग्ध कर लिया है। मैं अब कुछ समय के लिये सबसे अलग होकर नदी के किनारे एक शिला खण्ड पर जाकर प्रतिदिन बैठ जाती हूँ। शरद काल का अभी आरम्भ ही हुआ है। नदी की धारा में बड़ी प्रबलता है। वह बड़े वेग से बहती है। बड़े बड़े पत्थरों से टकराकर वह चक्कर खाती हुई, उछलती हुई बहती चली जाती है। वह मेरे मनके प्रसुप्त भावों को जगा देती है। यहां कितने ही ग्वाले बैल चराने आते हैं। दूर दूर तक उनके गाय-बैल चरते रहते हैं। उनके रक्तक निशंक होकर पेड़ों पर खेलते रहते हैं। कभी कभी उनमें से कोई बंशी बजाने लगता है और

कभी कोई गाता भी है। वंशी की वह मधुर ध्वनि अरण्य की निस्तब्धता में एक अपूर्व रस की सृष्टि करती है। नदियों की कल-कल ध्वनि, वृक्षों के मर्मर शब्द, खगों के कलरव के साथ उसका एक मेल रहता है। स्वरों के इस वैचित्र्य में इतनी कोमलता रहती है कि उससे वन की शान्ति भंग नहीं होती। मैं एक काषाय वस्त्र पहिन कर वनों में घूमना पसन्द करती हूँ। क्षण भर कल्पना में मैं यह समझ लेती हूँ कि मैं भी एक तरस्विनी बाला हूँ। यह सच है कि मृगों के साथ मेरा साहचर्य नहीं है और न पशु पक्षियों से स्नेह-सम्बन्ध। वनवासिनी शकुन्तला की तरह मैं सखियों के साथ झाड़ों में जल देती भी नहीं फिरती। कभी कभी जंगल के भीतर दो तीन ग्राम्य युवतियों को लकड़ी बीनते देख मेरे मन में ऐसी इच्छा होती है कि मैं उनसे स्नेह-सम्बन्ध स्थापित कर उनके साथ घड़ी भर वन में घूमूँ। अधिकांश युवतियों का रंग श्याम होने पर भी उनमें एक ऐसी दीप्ति रहती है कि मैं उनमें रूप का वह सौन्दर्य देखती हूँ जो नगर की युवतियों में नहीं रहता। पर उनके और मेरे बीच में सभ्यता का एक ऐसा व्यवधान आ गया है कि कितनी ही ममता और आदर के साथ बुलाने पर भी वे मेरे पास शक्ति सी होकर आती हैं। स्नेह में समता का भाव होता है और सभी उससे आत्मीयता हांती है। वे मुझे आदर देती हैं, मान देती हैं, इज्जत करती हैं, मेरी सेवा के लिये सदैव तत्पर भी रहती हैं। पर उनके इस आदर और सेवा में आत्मीयता नहीं, शंका रहती है। वे किसी भी प्रकार मुझ को अपने बीच में नहीं रख सकतीं।

(१०९)

(७)

मुझे मेरी मामी ने कई बार कहा कि मैं जंगल में अकेली घूमने न जाया करूँ । यहाँ वन में बाघ, चीते, भालू आदि का विशेष भय न होने पर भी यह स्थान निरापद नहीं है । वन वन ही होता है । पर मैंने उनकी इस बात पर ध्यान नहीं दिया । जब इन जंगलों में गांव की लड़कियाँ निश्चिंत होकर घूम सकती हैं तब मैं वहाँ घड़ी भर निश्चित होकर क्यों नहीं बैठ सकती ? परन्तु कल एक घटना हो ही गई । कुछ दिनों से मैं अन्यमनस्क सी हो रही थी । एकान्त में बैठते ही मेरा मन आपसे आप किसी अज्ञात, अपरिचित प्रदेश में विचरण सा करने लगता था । कदाचित् एकाकिनी होने के कारण मेरी चित्त-वृत्ति ऐसी हो गई थी कि मैं वन में आते ही कल्पना के माया-लोक में निमग्न हो जाती थी । मुझे बाह्यजगत् की सुधि नहीं रहती थी । कल मैं नदी के तट पर खड़ी होकर शून्य दृष्टि से उसके चंचल प्रवाह की ओर ताक रही थी । पवन कुछ क्षिप्र गति से बह रही थी; उसी के कारण नदी में भी तरंगे उठने लगी थीं । सहसा एक गाय मेरी ओर झगट पड़ी । मैं कह नहीं सकती कि उसने मुझपर क्यों आक्रमण किया । उसके आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिये मेरे पास कोई साधन नहीं था । भाग कर मैंने अपने को बचाना चाहा, पर मेरे पैर फिसल गये और मैं नदी के प्रवाह में गिर पड़ी । मैं तैरना जानती हूँ, पर नदी का प्रवाह तीव्र था । मैं उसमें बह चली । मैंने बड़ी चेष्टा की कि मैं नदी के किनारे तक किसी तरह पहुँच जाऊँ,

पर मेरे सारे प्रयास व्यर्थ हुए । मैं घबड़ा गई । मेरे शरीर में शिथिलता आ गई । मैं खूब जोर से चिल्ला उठी । मेरी दृष्टि-शक्ति जल के थपेड़े से कुछ मन्द हो गई थी । तो भी मेरी दृष्टि सहसा एक युवक पर पड़ी । वह नदी के दूसरे तट पर खड़ा था । मुझे देखते ही वह नदी में कूद पड़ा । कुछ घबराहट, कुछ भय, कुछ क्रांति और कुछ धारा की प्रचंड गति से मेरी चेतना शक्ति लुप्त होने लगी । मैं कह नहीं सकती कि वह युवक कब मेरे समीप पहुँचा । पर मुझे सबल बाहुओं के स्पर्श का अनुभव अवश्य हुआ ।

जब मैंने आंखें खोल कर देखा तब वही युवक मेरे लिये प्राणों की बाजी लगा नदी की प्रचंड धारा में लड़ रहा था । मुझे लेकर जब वह किनारे पर लौट आया तब उसका शरीर विलकुल कलान्त हो गया था । मेरी भी ऐसी स्थिति नहीं थी कि अपने उस प्राण-रक्षक के प्रति किसी प्रकार कृतज्ञता का भाव व्यक्त कर सकती । घर में लौटने पर मेरे मन में विभिन्न भावों की तरंगें बठने लगीं । मेरी मामी तो अपने स्वजनों और परिजनों को देखने के लिये चली गई । पर स्वस्थ हो जाने पर भी मैं एक अवसाध का भाव लेकर अपने कमरे में ही पड़ी रही ।

(८)

मेरी मामी की श्रद्धा पर मुझे श्रद्धा है । श्रद्धा और भक्ति के भाव से उनके मुख पर सदैव एक अलौकिक कान्ति विराजमान रहती है । सच तो यह है कि विश्वास पर ही हिन्दू स्त्री का जीवन है । इसी विश्वास की दृढ़ता के कारण हिन्दू स्त्री शान्ति की प्रतिमा

प्रतीत होती है। मैंने अपनी मामी के मुख पर कभी न अशान्ति का भाव पाया और उद्वेग का ! परन्तु शान्ति और स्थिरता का जीवन मेरे लिये नहीं है। आज मेरे हृदय में जो तरंगें उठ रही हैं उसमें क्षुब्ध हो गई हूँ—विक्षिप्त हो गई हूँ।

ग्राम में शरद पूर्णिमा की रात्रि उत्सव की रात्रि होती है। चन्द्रमा के उज्ज्वल प्रकाश में वन का सौन्दर्य देखने के लिये उसी नदी के तट पर चली गई। पर सच पूछो तो मेरे हृदय में एक प्रतीक्षा का भाव विद्यमान था। जिस उपेक्षा के साथ उस दिन वह युवक मुझे प्राण-भिक्षा दे गया उसी उपेक्षा के साथ मैं उसकी यह भिक्षा ग्रहण न कर सकी। करुणा से उबज्जल उसका मुख क्षण भर भी मेरे चित्त से नहीं उतरता। उसी की व्यर्थ प्रतीक्षा में मेरा दिन व्यतीत हो गया और उसी की व्यर्थ प्रतीक्षा में मैं नदी—तटपर बैठी हुई थी। वहां आज कितनी ही ग्रामिण स्त्रियाँ भी आई थीं। छोटे छोटे बालक खेल रहे थे। सभी के मुख—मंडल पर चन्द्र-ज्योत्स्ना की तरह एक उज्ज्वलता थी। केवल मेरे ही मन में विषाद की एक छाया थी। कुछ देर के बाद मैं स्थिर होकर नहीं बैठ सकी। मैं खड़ी हो गई और एक मार्ग पर निःशंक होकर चलने लगी। मार्ग क्रमशः जन-शून्य होने लगा। परन्तु मैं आगे ही बढ़ती जाती थी। अन्त में मैंने उस युवक को देख ही लिया। वह उसी ओर आ रहा था। एकाएक मुझे ऐसे निर्जन स्थान में देख कर वह चकित हो गया। फिर उसने कहा—सचमुच अरण्य के प्रति आप का असाधारण आकर्षण

है। आइये, यहीं बैठ कर वन की शोभा देखिये। इसके बाद वह बैठ गया और मैं भी बैठ गई। वह कितनी ही तरह की बातें करने लगा। पर मेरी तो वाक्-शक्ति लुप्त सी हो गई। मैं उसे अच्छी तरह उत्तर भी न दे सकी। नाम पूछने पर उसने कुछ रुक कर बतलाया कि उसका नाम सुरेश है और वह गाँव में अपने मित्रके साथ रहता है। थोड़ी देर तक मैं उसकी बातें सुनती हुई बैठी रही। फिर उठ कर मैं वहाँ से चल पड़ी। मुझे घर तक पहुँचाने के लिये वह युवक भी मेरे साथ आया। चारों ओर निस्तब्धता थी, चारों ओर चन्द्रमा की व्योम्ना का उज्ज्वल प्रकाश था, चारों ओर एक मधुरता थी। एक सौंदर्य था, एक दीप्ति थी और एक अलौकिक आनन्द की दीप्ति लेकर मैं भी अपने घर पहुँची।

(९)

जीवन की सफलता पर मैं विज्ञों के विचार लिख रही थी। सहसा मेरे कमरे का द्वार खोल कर सुरेश भीतर आया। इन चार दिनों में ही उसने केवल मेरे ही ऊपर अधिपत्य नहीं स्थापित कर लिया, किन्तु मामी का भी वह विशेष श्रद्धा, स्नेह और आदर का पात्र हो गया था। इसीलिये हम लोगों के घर में उसकी निर्बाध गति हो गई थी। उसने मेरे निबन्ध को देखा और हँस दिया। “जीवन की सफलता प्राप्त करने का अधिकार आप ही लोगों की है।” इतना कह कर वह क्षण भर रुक गया और फिर कहने लगा—“प्रेम, त्याग और सेवा के सच्चे आदर्श को भूल कर

हम लोग पतन के गर्त में चले जाते हैं। यह समझ रखिये कि एक महत् प्रेम के लिये क्षुद्र प्रेम को छोड़ना पड़ता है, एक महत् आकांक्षा के लिये क्षुद्र आकांक्षाओं की उपेक्षा करनी पड़ती है। सुख और शान्ति के एक क्षुद्र भवन में हम लोग न्याय और नीति की चर्चा करते हैं, धर्म और अधर्म की आलोचना करते हैं, पाप और पुण्य की विवेचना करते हैं। अपने परिवार के भीतर किसी प्रकार का संघर्ष न हो इसीकी चिन्ता से हम लोग जीवन का एक सरल मार्ग निश्चित करते हैं। उसी मार्ग पर चल कर हम लोग सांसारिक उन्नति और गौरव के जिस शिखर पर चढ़ जाते हैं, उसी में हम लोग अपने जीवन की सफलता मान लेते हैं। किन्तु एक महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिये जब मेरे समान लोग किसी उग्र साधना में व्यस्त हो जाते हैं तब उन्हें अपनी ममता, अपनी दया, अपना स्नेह सभी कुछ उसमें विलुप्त कर देना पड़ता है। न्याय और नीति के कपटजाल में जिन्होंने लोभ की अट्टालिका बना रखी है, विलास का ऐश्वर्य-निकेतन निर्मित कर लिया है और दीनोंके आर्तनाद और हाहाकार के बीच में सुमधुर वीणासे मुखरित लताकुंज बना लिया है उनके इस जाल को तोड़ने के लिये हम लोग क्रूरता और दुर्नीति का भी स्वागत करेंगे। पाप की विभोषिका, मृत्यु की विकरालता, प्रतिहिंसा की उग्रता किसीसे भी हम विचलित नहीं होंगे। हम लोग विनाश के पथ पर जावेंगे और विध्वंस में उन्माद और उल्लास में जीवन की सफलता प्राप्त करेंगे।”

इतना कह कर वह क्षण भर रुक गया । फिर थोड़ी देर बाद कहना आरम्भ किया—“ललिता, मैं अब जा रहा हूं मैं तुमसे विदा लेने के लिये आया था । मैं जब तुम्हारी मामी से तो भेंट नहीं कर सकता । जब वे लौट कर आवें तब तुम उन्हें मेरी ओर से प्रणाम कह देना । मेरे लिए अभी एक क्षण भी रुकना असंभव है । फिर जब मिलूंगा तब तुम्हें सब बातें बतलाऊंगा ।” इतना कह कर वह तुरन्त ही बाहर चला गया । मैं उसे एक शब्द भी न कह सकी ।

(१०)

समय चला जाता है । यहां आए मुझे कितने दिन हो गये ! पहले जब मैं यहां अपने मामी के साथ आई तब यहाँ का अवसादपूर्ण, निश्चेष्ट और नीरस जीवन देखकर मेरे मन में यह बड़ी आशंका थी कि मैं अपने इस स्थान को छोड़ कर दूसरी जगह रह नहीं सकूंगी । इस स्थान पर मेरा महत्व हो गया है । इन थोड़े ही दिनों के भीतर कितना परिवर्तन हो गया, सुखदुख की कितनी बातें हो गई, संयोग और वियोग, स्नेह और तिरस्कार, सद्भाव और कुभाव-सभी मेरे अन्तर्जीवन में प्रकट हुये ! सुख के उल्लास में मैंने क्या क्या नहीं किया, आशा की उमंग में मैंने क्या क्या बातें नहीं सोची ? इसी के साथ कभी मुझे मोह हुआ, क्रोध हुआ और एक अनादर का भी मैंने अनुभव किया । यही सब भाव लेकर मैं अब जीवन के अज्ञात पथ पर आगे ही बढ़ती जा रही हूँ । अब मैं पीछे नहीं लौट सकती ।

जो हो गया वह हो गया, उसके लिये अब कोई उपाय नहीं है। मुझे अब चिन्ता और वेदना का भार लेकर आगे ही बढ़ना पड़ेगा। कहां जाऊंगी यह मैं स्वयं नहीं जानती। पर एक अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से आगे बढ़ती जा रही हूँ।

(११)

मैं किस के लिये ये सब बातें लिख रही हूँ ? संसार में सभी तरह की बातें होती हैं—कितनों का उत्थान होता है और कितनों का पतन। जिनका जिनसे सम्बन्ध रहता है वही उनके सम्बन्ध में चिन्ता ग्रस्त होते हैं। अन्य को उसके सम्बन्ध में केवल विरक्ति का ही भाव होता है। अपने पिता के वर्तमान उद्वेग से मैं भी कुछ उद्विग्न हो गई हूँ। इसीलिये राज्य की छोटी बड़ी घटनाओंको यहाँ लिखने बैठ गई हूँ। परन्तु मेरे मन में जो एक प्रचण्ड भाव की आँधी उठ रही है उसे कौन जान सकता है। मैं तुम्हें अंतर्दामी समझती हूँ। तुम मेरे हृदय में निवास करते हो। तुम्हीं को उसका ज्ञान होना चाहिए। संभव है कि तुम भी अब इस सम्बन्ध में सर्वथा निरपेक्ष हो ! पर तुम्हें चिन्ता हो या न हो मैं तो तुम्हारे ही सम्बन्ध में चिन्ता करती रहती हूँ। अपने अतर्जगत में मैंने तुम्हारी एक मूर्ति बनाली है। उस पर न तो काल का प्रभाव पड़ सकता है न परिस्थिति का। यथार्थ जगत् में, तुम्हारे और मेरे जगत् में भले ही व्यवधान हो, पर कल्पना—जगत् में तुम तो मेरे बिल्कुल समीप ही हो। सच्ची बात तो यह है कि जब मैं बिल्कुल अकेली रहती हूँ तभी मैं तुम्हारे सामीप्य

का अनुभव करती हूँ । किसी कवि ने सच कहा है—

“तुम मेरे पास होते हो गोया,

जब कोई दूसरा नहीं होता ।”

तभी तो संसार के दैनिक कार्यों से मुक्त होकर मैं अपने जीवन की सभी बातें तुम्हें ही सुनाने बैठ जाती हूँ । कभी कभी अपनी वर्तमान स्थिति से मैं इतनी त्रस्त हो जाती हूँ कि मैं कुछ सोच ही नहीं सकती कि क्या करूँ ! मुझमें कुछ सोचने की भी शक्ति नहीं रह जाती । उद्वेग में आकर मैं कुछ का कुछ कर बैठती हूँ । जरा जरासी बात पर क्रुद्ध हो जाती हूँ । पहले मुझमें जो सहिष्णुता थी वह अब मुझमें नहीं है । नहीं करते करते मेरा जीवन व्यतीत हो रहा है । कहां मेरे जीवन की सफलता है यह मैं अपने मनमें सोच कर भी नहीं सोच सकती । भविष्य में मेरे लिये अब कौन दूसरी आशा है, अब कौन दूसरा लक्ष्य है ? जिस दिन महाकाल का निमंत्रण आयेगा, उस दिन क्या मैं यह सोच सकूंगी कि मैंने अपना कर्तव्य कर लिया, अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया और अब मुझे यहा से चले जाने में कोई बाधा नहीं है !

कैसी भी स्थिति क्यों न हो, कैसा भी कष्ट क्यों न हो, समय उसकी तीव्रता को हर ही लेता है । सुखके भी दिन क्षणिक होते हैं । जब वे दिन चले जाते हैं तब वे सभी बातें हमें स्वप्न तुल्य प्रतीत होने लगती है । आज जो मेरे लिये एक मात्र सत्य है, आज जिस एक की चिन्ता में मैं लीन हूँ, आज जिस एक के

लिये मैं शंकाग्रस्त हो रही हूँ, आज जिस एक इच्छा की पूर्ति की ओर मेरा लक्ष है, आज जिस एक की कामना मुझमें है, कल क्या उसी की सुखद स्मृति ही नहीं रह जायगी ? प्रतिदिन मैं एक ही बात की चिन्ता करती रहती हूँ । मैं कुछ सोच ही नहीं पाती कि कब मुझे उस चिन्ता से मुक्ति होगी ! मन में सदैव एक आशंका सी बनी रहती है फिर भी एक आशा है और वह आशा प्रबल भी है । किसीने सच कहा है कि आशा से बद्ध होने के कारण हम लोग अपने जीवन-पथ में अग्रसर हो सकते हैं; यदि हम आशा छोड़ दें तो हम लोग बिल्कुल निश्चेष्ट हो जाते हैं । हममें कुछ करने की शक्ति नहीं रह जाती । यह सच है कि कभी कभी मैं भी निराश हो जाती हूँ । मुझे ऐसा ज्ञान पड़ता है कि मेरी आशा दुराशा मात्र है । पर आशा का एक कारण लुप्त होते ही उसके स्थान में आपसे आप एक ऐसी बात हो जाती है जिससे फिर आशा जाग उठती है । यही कारण है कि बार बार हताश होने पर भी कोई भी मनुष्य आशा नहीं छोड़ सकता । मैं अपनी ओरसे क्या नहीं कर रही हूँ ? परंतु मुझे अपने किसी भी काम में सफलता नहीं मिल रही है, फिर भी मैं सोचती हूँ कि कभी न कभी मैं अपने प्रयत्न में सफल होऊंगी । किसी न किसी दिन मुझे अपने अभीष्ट की सिद्धि हो जायगी । एक से विफल मनोरथ होने पर मैं दूसरे उपाय का आश्रय लेती हूँ । जो बात असंभव प्रतीत होती है उसको भी हम लोग संभव मान ही लेते हैं । यों ही एक एक कर मेरे दिन व्यतीत हो रहे हैं । प्रतिदिन

(११८)

सूर्योदय होता है, पवन मानों सूर्य के आगमन का संदेह लाकर प्रकृति को जगा देती है। सभी नव उल्लास से पूर्ण होकर सूर्य का स्वागत करते हैं। फूल खिल उठते हैं, पक्षी स्तुति-गान करने लगते हैं, लताएँ आनन्द के आवेग से झूमने लगती हैं, नदियों के हृदय में तरंगे उठने लगती हैं; चारों ओर सुखका राज्य छा जाता है ! फिर सन्ध्या होती है। संसार पर अन्धकार का एक आवरण छा जाता है, और सभी उसमें शांति का अनुभव कर दीर्घ निद्रामें प्रसुप्त हो जाते हैं। यह तो मनुष्य-समाज का काम है कि वह दिनमें कितने ही कामोंमें व्यस्त रहता है और रातमें कितनी ही चिन्ताओंमें लीन रहता है। दिनभर जैसे विकट चीत्कार-ध्वनि होती रहती है उसी तरह रातमें भी आर्तनाद होता रहता है।

(१३)

प्रातः काल में चुपचाप बैठी आकाश की ओर शून्य दृष्टि से ताक रही थी। अनन्त आकाश की, अनन्त नीलिमा में मेरी आंखें न जाने किसे ढूँढ रही थीं। चार-पाँच पक्षी अपने उस अनन्त पथ पर न जाने कहाँसे उड़ते जा रहे थे। उसी समय नौकर एक अखबार और कुछ पत्र लाकर मेज पर रख गया। मैंने अन्यमनस्क भावसे अखबार को खोला। सहसा एक चित्र पर दृष्टि पड़ते ही मैं चौंक पड़ी। वह चित्र सुरेश का ही था पर उसके नीचे लिखा था—‘प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता-धीरेन्द्र।’ मैं व्यग्र होकर समाचार पढ़ने लगी। उसमें लिखा था कि कलकत्ते के हत्याकाण्ड में एक हिन्दू परिवार की रक्षा करते हुए प्रसिद्ध

क्रान्तिकारी नेता धीरेन्द्र की मृत्यु हो गई। यह समाचार पढ़ और चित्र को देखकर मैं बिल्कुल स्तब्ध हो गई। तब मेरा वह प्राण-रक्षक सुरेश नहीं, धीरेन्द्र था और अब वह नहीं रहा। मैं सचमुच अपने सत्यवान को मृत्यु के मुख से नहीं बचा सकी ! सच ता है। वह जीवन भर मृत्यु के ही साथ खेलता रहा और अन्त में मृत्यु में ही उसने जीवन की सफलता प्राप्त की। उसके साथ मेरा सम्बन्ध ही क्या हो सकता था ? मृत्यु ही उसकी चिर सहचरी थी। और अब-अब तो मेरे लिये मेरा जीवन ही भार रूप हो रहा है। लिखूं तो क्या लिखूं ?

(१४)

अब मैं अपनी डायरी यहीं समाप्त कर देती हूं। जीवन की बातें तो कभी समाप्त होती ही नहीं। जब जीवन का अन्त होता है तभी उनकी समाप्ति होती है, परन्तु यह सच है कि कालके लिये कोई भी काम विलक्षण नहीं है। स्नेह, ममता, प्रेम, त्याग सेवा द्वारा कितने ही दिनोंसे अनुराग की जो विशाल अट्टालिका निर्मित होती है उसे काल का एक आघात क्षण भरमें मिटा देता है। कितने ही दिनों से मैंने अपने हृदयमें जो कुछ भी स्नेह संचित किया था वह अब बिल्कुल सूख गया ! अब जीवन में केवल एक शिथिलता, एक नीरसता, एक विरक्ति आ गई है। हम लोगों का जीवन अपूर्व कामनाओं और विफल प्रयासों का ही तो एक दीर्घ काल है। जब हम लग किसी दिन संसार को छोड़कर चले जाते हैं तब क्या हम लोग अपनी इन्हीं अपूर्ण

कामनाओं को अपने साथ ले जाते हैं ? कौन जाने मृत्यु के बाद जीवन की कौन स्थिति होती है ! जीवन का वह भाग सदैव अंधकारमय बना रहता है । कितने ही लोग आये और गये, कितने ही लोग कुछ समय के बाद फिर चले जावेंगे पर मृत्यु का वह धाम जहां जीवन का अवसान है—हम लोगों के लिये सदैव रहस्यमय बना रहेगा ! मुझे तो संसार की समस्त विभूति में एक असारता प्रतीत होती है । कीर्ति और सम्पत्ति, शक्ति और दर्प, विद्या और प्रतिष्ठा, सेवा और त्याग, प्रेम और लालसा सभीमें एक क्षणिकता ही दिखाई देती है ।

वरदान

मैं जानता हूँ कि तरुणों के समाज में बैठ कर हम लोगों को प्रेम की कोई कथा कहनी पड़ेगी, फिर वह चाहे सच हो या मूठ । पर मेरी कथा इतनी विलक्षण है कि आप लोगों को सहसा उस पर विश्वास नहीं हो सकेगा ।

कौन विश्वास करेगा कि कांच के पाँच टुकड़ों में मेरी जीवन गाथा छिपी हुई है । पर है यह बात सच्ची । जो बात हो गई वह तो हो गई, उस पर सोच करना अब व्यर्थ है, फिर भी आज जब मैं अपने जीवन की बातें सोचता हूँ, तब मुझे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि हम लोगों के जीवन में सचमुच कोई अलक्षित शक्ति काम कर रही है । उस शक्ति के विरुद्ध लड़ना बिल्कुल व्यर्थ है । हमारी अपनी इच्छा कोई इच्छा ही नहीं है । हम अपने को विज्ञ समझ कर चाहे जिस प्रकार भी उस अलक्षित शक्ति के विरुद्ध काम करें, पर उसका परिणाम हम लोगों के लिए अनिष्टकर ही होता है ।

बाल्यकाल से मेरे हृदय में संसार के प्रति विद्रोह का भाव हो गया था । संसार में विषमता का जो कुफल होता है, उसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव था । तिरस्कार, अपमान और कष्ट के साथ पग-पग पर मुझे कितने ही विद्रोह का सामना करना पड़ता था ।

मैं देखता था कि कुछ लोगों को अपने जीवन में किसी प्रकार का कोई भी कष्ट नहीं सहना पड़ता था। संसार के समस्त ऐश्वर्य और सुखों पर ऐसे ही लोगों का आधिपत्य देख कर मैं जल उठता था। उनका गौरव देखकर मुझे अपनी हीनता का अनुभव होता था, उनका दर्प मेरे लिये असह्य था।

संसार में न्याय और अन्याय का सच्चा निर्णय कौन कर सकेगा। शक्ति में दर्प रहता है, प्रभुत्व में अन्य के प्रति एक अवज्ञा रहती है, सम्पत्ति में एक उन्माद रहता है और उच्चपद में असहिष्णुता रहती है। पर सभी स्थितियों में हम अपनी बुद्धि के द्वारा प्रेरित होकर ही काम करते हैं। जिसे हम न्याय समझते हैं उसीको हम करते हैं। हम जिसको अत्याचार और उत्पीड़न मानते हैं, उसी को दूसरा शासन की दण्ड-व्यवस्था कहता है। संसार में जिनके हाथ में शासन-सूत्र रहता है वे देश की उन्नति के लिये ही सभी काम करते हैं। सच तो यह है कि जो कुछ काम करते हैं उनको वे सभी जनता के कल्याण के लिये ही करते हैं। जनहित के लिये विप्लव होता है और जनहित के लिये विप्लव दबाया जाया है। जनहित के लिये युद्ध होता है, नगरों का विध्वंस होता है, हत्या होती है। इसी प्रकार जनहित के लिये ही अच्छे या बुरे सभी तरह के काम होते हैं। हिटलर और मुसोलिनी ने भी देश की कल्याण कामना के ही लिये सभी काम किये थे। न जाने कब से सभी प्रकार के लोग संसार के कल्याण के लिये सभी प्रकार पथ तैयार करते आ रहे हैं। बड़े बड़े सिद्धों और

योगीश्वरों ने उग्र तपस्या द्वारा सुपथ खोज निकाला । बड़े बड़े ज्ञानियो ने आजीवन कष्ट सहकर और अपनी साधना में निरत रहकर मनुष्यों को सन्मार्ग प्रदर्शित किया । परन्तु संसार में न कभी अन्याय का अन्त हुआ और न अत्याचार का । यथार्थ में मनुष्य जीवन में कल्याण नहीं चाहता । उसमें गौरव की जो लालसा रहती है उसी की प्राप्ति के लिये वह प्रयत्नशील होता है । वह जिसमें गौरव देखता है उसी जो स्वायत्त करना चाहता है । नीति की शिक्षा सभी किसी को दी जाती है । यह बात नहीं है कि आजकल सुनीति की शिक्षा नहीं मिलती । पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य आदि की विवेचना करने के लिये मनुष्य सभी समय में यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लेता है । सभी समय में सदाचार की महिमा का यशोगान होता है, सभी लोग कहते यही हैं कि सदाचार ही सबसे अधिक स्पृहणीय है । उसी में मनुष्यत्व का यथार्थ गौरव है । संसार में उसी का आदर होना चाहिये और जो व्यक्ति सदाचार को स्वीकार करता है, वह सदैव आदरणीय होता है । परन्तु संसार के क्षेत्र में प्रविष्ट होते ही हम लोग देखते यही हैं कि सम्पत्ति और शक्ति में ही यथार्थ गौरव है । जिनके पास सम्पत्ति और शक्ति है वे प्रतिष्ठा के पात्र बन जाते हैं । कवियों ने यह बात मूठी नहीं कही है कि जिसके पास सम्पत्ति और प्रभुता है, उसी के पास सभी गुणों का गौरव है ।

एक दिन अपने एक सहपाठी धनिक-पुत्र से मेरा झगड़ा हो गया । उसने मुझे खूब अपमानित किया । उस समय मैंने उसे

कहा—आज अपने जिस धन के गर्व से तुम मेरा अपमान कर रहे हो, वह यथार्थ में दरिद्रों के प्रयत्नों से ही संचित हुआ है। तुमने उसे अनायास ही प्राप्त कर लिया है। तुममें और एक डाकू या चोर में कोई भेद नहीं है। अपने पौरुष से वह सम्पत्ति यदि तुम स्वयं प्राप्त करते तो मैं तुम्हें मनुष्य समझता। मैं तो अभी तुम्हें मनुष्य ही नहीं समझता हूँ। तुम मनुष्यत्व का मूल्य क्या समझोगे ? कभी समय आएगा जब अपने पौरुष से सम्पत्ति अर्जित कर मैं तुम्हें बतला दूंगा कि सम्पत्तिशाली व्यक्ति कैसा होता है और उसमें जितना मनुष्यत्व रहता है। उन दिनों मैं सम्पत्ति में ही जीवन का यथार्थ गौरव देखता था और यह समझता था कि सम्पत्ति उद्योग के द्वारा ही अर्जित की जा सकती है। ज्यों-ज्यों मेरी अवस्था बढ़ती गई, त्यों-त्यों मैं यह अनुभव करने लगा कि एकमात्र परिश्रम पर वह निर्भर नहीं है। मैंने अपने परिश्रम से ज्ञान अवश्य उपार्जित किया, पर परीक्षा में सर्वोच्च स्थान पाकर भी मैं अपनी दीनता के कारण ज्ञान के वृहत क्षेत्र में भी प्रविष्ट नहीं हो सका। मुझ में विद्या के प्रति बड़ा अनुराग था, पर मेरे लिये यह संभव नहीं था कि मैं बाहर जाकर कालेज में शिक्षा प्राप्त कर सकूँ। मेरे कितने ही साथी कालेज में जाकर पढ़ने लगे। उनमें बुद्धि की हीनता रहने पर भी उन्हें अपने मानसिक विकास के लिये यथेष्ट अवसर मिला। वे ज्ञान के पथ में अग्रसर होने लगे। मुझे विवश होकर अपने गाँव में ही अपना क्षुद्र जीवन व्यतीत करना पड़ा। जब मेरे साथी कालेज

से लौटते थे, तब मैं उनके पास जाता था। उनकी बातों से मुझे बड़ा आह्लाद होता था। मैं उनकी किताबें मांग लाता था, उन्हें मैं खूब ध्यान देकर पढ़ता था और समझने का प्रयत्न करता था। कुछ बातें समझ में आती थी, कुछ नहीं आती थीं पर उससे मुझे एक मानसिक तृप्ति होती थी। अन्त में एक दीर्घ निश्वास लेकर मैं उन्हें लौटा देता था और यही सोचकर अपने मन में सन्तोष कर लेता था कि विद्या की उस अमूल्य निधि पर मेरा अधिकार ही क्या है। इसी प्रकार कई वर्ष व्यतीत हो गये। एक एक अभाव का कष्ट सहन करते हुए मेरे स्वजन भी मुझे छोड़कर चले गये।

मैं अपने घर में अकेला हो था। माता-पिता, भाई-बहन कोई नहीं थे। साधारण शिक्षा प्राप्त कर मैं अपने ही नगर में स्कूल-मास्टर हो गया था और किसी तरह जीवन-यापन कर रहा था। २१ वर्ष की ही अवस्था में अपनी प्रतिकूल स्थिति के कारण मुझे संसार से एक विरक्ति सी, एक चिढ़ सी हो गई थी। मेरे पिता की साधारण अच्छी स्थिति थी। पर असमय ही उनकी मृत्यु हो जाने के कारण वे मेरे लिये कुछ प्रबन्ध न कर सके। छोटी अवस्था में ही मुझ पर गृह का सारा भार आ गया। मेरी दो बहिनें थीं। उनके विवाह की चिन्ता मुझे करनी पड़ी। विवशता और अज्ञमता पर मुझे अपने ही ऊपर क्रोध आने लगा। मेरे बाल्यकाल के कितने ही साथी जिन्हें मैं सर्वथा अयोग्य समझा करता था, मुझसे कहीं अच्छी स्थिति में हो गये थे। मैं सोचता

था कि वे ही कैसा पुण्य करके आये थे कि सभी प्रकार के सुख और सम्पत्ति पर उनका अनायास अधिकार हो गया। मैंने ही ऐसा क्या अपराध किया था कि भगवान ने मुझे इस कष्ट और अभाव में डाला। मेरी माता दिन-रात परिश्रम करती थी। मैं अपनी मां के कष्टों को चुपचाप दिन रात देखा करता था। मैं उन्हें दूर करने के लिये सर्वथा अक्षम था। मैं बार बार यही चिन्ता करता था कि यदि मुझे किसी प्रकार अवसर मिलता तो मैं भी विद्वान बन गया होता और तब मेरी भी प्रतिष्ठा होती और मैं भी सुख से अपना जीवन व्यतीत करता। संसार में तो धन का ही मूल्य है, विद्या का गौरव है और पद की प्रतिष्ठा है। मैं तीनों से हीन होने के कारण, अपनी ही दृष्टि में हीन हो रहा था। कर्ज लेकर मुझे अपनी बहिनों का विवाह करना पड़ा। उससे मेरा कष्ट और बढ़ गया, मेरी चिन्ता भी बढ़ गई। अपमान, तिरस्कार और आत्म-ग्लानि के कारण मैं भीतर ही भीतर जला करता था। इसी कष्टमय अवस्था में मेरी मां की मृत्यु हो गई और तब मेरा दुःख असह्य हो गया।

जब हम लोगों की अपनी सारी शक्ति नष्ट हो जाती है, तब हम लोग किसी अलौकिक शक्ति के लिये इच्छा करते हैं। उसी समय उस गांव में एक फकीर आये। किमी अज्ञात की प्रेरणा से मैं उनकी ओर आकृष्ट हुआ। जब मैंने उस फकीर के पास अपने दुःखों की बातें कहकर उससे कोई ऐसा उपाय जानना चाहा जिससे मेरी इच्छा सफल हो जाय। तब उसने हंस कर कहा—

“बेटा, तुम बड़ी भूल कर रहे हो । मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति कभी हो नहीं सकती । इच्छा उत्पन्न होती है । तुम इच्छा ही क्यों नहीं छोड़ देते ? तब फिर तुम्हें न कोई कष्ट रहेगा और न कोई अभाव ।” परंतु उस दिन उसका उपदेश मुझे अच्छा नहीं लगा ।

मैंने कहा—“महाराज, हम तो संसार में रहते हैं । संसार के सुख-दुःखों का अनुभव करते हैं । यह इच्छा करना हम लोगों के लिये स्वाभाविक है कि हमें सुख हो और दुःख न हो । आज जिन कारणों से मुझे दुःख हो रहा है, उन्हें भगवान का नाम लेकर सहता जाऊँ, यह तो पुरुषार्थ नहीं है । इसी लिये मैं चाहता हूँ कि आप मुझे कुछ ऐसी शक्ति दीजिये जिससे मैं अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों को दूर कर सकूँ ।”

फकीर ने कहा—“बेटा, तुमने पुराणों में राक्षसों की कथा सुनी होगी । उन लोगों ने कठोर तपश्चर्या के द्वारा अपनी इच्छा पूर्ति के लिये भगवान ब्रह्मा से वर प्राप्त किये । परन्तु अन्त में उनका नाश ही हो गया । मृत्यु के विरुद्ध राजस ने यह वर मांग लिया कि उसे न देव मार सके, न मनुष्य और न पशु । वह न दिन में मर सके न रात में । वह न पृथ्वी पर मरे न आकाश में । यह वर मांग कर उसने समझा कि वह काल को परास्त कर देगा, परन्तु काल ने हँसते-हँसते नृसिंह के नखों से उसी की गोद पर संध्या-समय में उसको मरवा डाला । इसीलिये मैं कहता हूँ कि तुम अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये प्रयत्न न कर उनका दमन करने की चेष्टा करो ।”

मैंने कहा “महाराज, सदिच्छा का शुभ फल ही होगा। मैं ऐसा मूर्ख नहीं कि खराब वस्तुओं की इच्छा करूँ।” तब फकीर ने हंस कर मेरे हाथ में कांच का एक टुकड़ा देते हुए कहा—बेटा, यह टुकड़ा लो। इस के द्वारा तुम्हारी पांच इच्छायें सफल हो जावेंगी। एक एक इच्छा के बाद इसका एक एक अंश टूटेगा। जब इसके छः टुकड़े हो जायेंगे, तब तुम समझ लेना कि तुम्हारी पांच इच्छायें पूरी हो गईं। परन्तु जो छठा टुकड़ा बचा होगा, वह तब तक काला बना रहेगा, जब तक तुम्हारी वह इच्छा पूर्ण न होगी, जो भगवान की भी इच्छा है। मेरे कहने का मतलब यह है कि तुम्हारी पांच इच्छायें पूरी होंगी और एक वह इच्छा पूरी होगी जो भगवान की इच्छा है।

फकीर मेरे हाथ में कांच का वह टुकड़ा देकर चले गये। मैं विस्मय-विमुग्ध होकर वहीं कुछ देर तक खड़ा रहा। मुझे फकीर के वचनों पर विश्वास नहीं हुआ। मैं यह सोच ही नहीं सका कि मुझे कैसे पांच वरदान मिल जायेंगे। परन्तु मैं घर लौटा, तब मैंने सोचा इसकी परीक्षा ही क्यों न कर लूँ। मैं सोचने लगा कि विद्या से बढ़कर संसार में कोई चीज नहीं है। अभाग्यवश अपनी स्थिति की प्रतिकूलता के कारण मैं विशेष अध्ययन नहीं कर सका। इसी लिये मैंने यह इच्छा प्रकट की कि मैं बड़ा विद्वान और कवि बन जाऊँ। मैंने अपने मन में वह इच्छा प्रकट की ही थी कि प्रीष्म कालीन उष्ण-वायु का एक झोंका आया। मैं कांप सा उठा। उसी समय एक टुकड़ा खट से अज्ञात होगया।

मेरा शरीर कांपने लगा । मैंने चुपचाप टुकड़े सहित काँच का संदूक में रख दिया और एक खाट पर जाकर लेट गया । खाट पर लेटे लेटे मैं फकीर की बातों पर विचार करने लगा कि किस प्रकार विद्या-प्राप्ति की मेरी इच्छा पूरी होती है । मुझे नींद आ गई ।

वरदानों पर आज कोई विश्वास नहीं करता, परन्तु वरदान किसी भी महात्मा के शुभ संकल्प का फल होता है । जिसने सत्य की प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है, जिसमें सभा के प्रति शुभ कामना है, जिसमें चित्त की विशुद्धि है; उसके मन में इतनी शक्ति अवश्य रहती है कि वह अन्य के लिये सभी कुछ कर सकता है । उसी के कारण दूसरों के हृदय में भी एक विश्वास का भाव उत्पन्न हो जाता है । विश्वास की दृढ़ता के साथ जो एक दृढ़ संकल्प शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसके अस्तित्व में किसी वैज्ञानिक को भी सन्देह नहीं हो सकता । हम लोगों के अन्त-जीवन में जो शक्ति सुप्त सी निःचेष्ट पड़ी रहती है, वह एक प्रबल आघात पाकर सहसा जाग पड़ती है, तब वह अपने विकास के लिये स्वयं पथ बना लेती है । कितनी ही विषम स्थिति क्यों न हो, वह उस पर विजय प्राप्त कर लेती है । यही कारण है कि कालिदास के समान मूर्ख भी अपूर्व कवित्वशक्ति प्राप्त कर लेता और एक साधारण व्यक्ति भी असाधारण क्षमता प्राप्त कर लेता है ।

दूसरे दिन जब मैं सोकर उठा तब मुझे जान पड़ा कि मुझमें पढ़ने की लालसा फिर तीव्र हो गई है । मेरे घर के पास एक मिश्रजी रहते थे । उनमें बड़ा विद्यानुराग था । उन्होंने अंगरेजी,

संस्कृत और हिन्दी की सैकड़ों पुस्तकें एकत्र कर रखी थीं। मैं उनके यहां गया और उनसे एक पुस्तक मांग ले आया। उसे पढ़ने और समझने में मुझे जरा भी कष्ट नहीं हुआ। मैं प्रतिदिन पुस्तकें लाने लगा और प्रतिदिन ही उन्हें समाप्त कर लौटा देने लगा। थोड़े ही दिनों में मैं अंगरेजी, संस्कृत और हिन्दो के सभी श्रेष्ठ ग्रन्थों से परिचित हो गया। एक दिन मिश्रजी ने मुझसे श्री हर्ष कवि के एक श्लोक का अर्थ पूछा। मैंने उन्हें उसका अर्थ समझा दिया। वे सुन कर चकित हो गये। उन्होंने ही बतलाया कि मैं संस्कृत का बड़ा विद्वान् हूँ और इस ग्राम में मैं व्यर्थ अपना जीवन नष्ट कर रहा हूँ। उनकी प्रशंसा सुनकर मुझे गर्व हुआ और हर्ष भी। मिश्रजी सभी जगहों में मेरी विद्वत्ता की प्रशंसा करने लगे। उनके कारण नगर के सभी विद्वानों और प्रतिष्ठित आदिमियों से मेरा परिचय हो गया। सभी मेरी विद्वत्ता को देखकर आश्चर्य करने लगे और सभी को यह देखकर और भी अचरज होता कि इतना बड़ा विद्वान् हाकर मैं छोटे से नगर में क्यों अपना जीवन व्यर्थ कर रहा हूँ। गौरव की कामना हम सभी के हृदय में काम करती है। यहाँ हम लोगों की क्षमता है और यही हम लोगों की दुर्बलता है। कभी वह युग था जब धर्म में गौरव देखकर कितने ही लोगों ने हँसते-हँसते उसके लिये मृत्यु को स्वीकार कर लिया। वह भी एक समय था जब राज-भक्ति में भी माहात्म्य देखकर एक राजा के लिये ही वीरों ने सहर्ष और सगर्व युद्ध-क्षेत्र में प्राण त्याग कर दिये थे। ज्ञान के

लिये कितने ही लोगों ने संसार के सारे ऐश्वर्य को तिरस्कृत कर दिया । आज देश, राष्ट्र या जाति की गौरव-रक्षा के लिये कितने लोग स्वेच्छा से कष्ट को स्वीकार कर रहे हैं ।

अभी तक मैं अपने ग्राम-जीवन से संतुष्ट था, पर अब उनकी बातें सुन कर मुझे भी अपने जीवन से असंतोष होने लगा । मेरे मन में असंतोष के साथ मान के लिए तीव्र लालसा हुई । सचमुच मुझमें विद्या थी, पर उस विद्या का फल क्या हुआ ? रत्न यदि मिट्टी में ही दलित होकर पड़ा रहे तो उसकी महत्ता क्या है ? मैं अपनी विद्या से संसार का उपकार कर सकता हूँ और अक्षय कीर्ति अर्जित कर सकता हूँ । परन्तु मैं तो सविधान-हीन हूँ । कहाँ जाऊँ, किससे मिलूँ, कौन मेरी विद्या की महत्ता को स्वीकार करेगा ? कौन मुझे संसार में उच्च स्थान दिलायेगा ? यह मैं कुछ नहीं समझ सका । ऐसा स्थिति के लोगों को पूछता ही कौन है ? एक दिन मैंने अपना सन्दूक खोलकर कुछ कपड़े निकालने चाहे । सहसा मेरी दृष्टि उस कांच के टुकड़े पर पड़ी । मुझे फकीर की बात याद आ गई । सचमुच इसी कांच के टुकड़े से मैं विद्वान हो गया । पर क्या इसी के द्वारा मैं कीर्ति नहीं प्राप्त कर सकता हूँ ? कीर्ति की इच्छा बुरी इच्छा नहीं है । इसी में तो विद्या की सार्थकता है । मैंने अपने मन में तुरन्त इच्छा की कि मैं कीर्ति पाऊँ । उसी समय शीतल पवन के स्पर्श से मैं सिहर सा उठा । कांच का एक टुकड़ा फिर अलग हो गया । एक अज्ञात आशंका, उल्लास, और भय से मेरा हृदय धड़क उठा । मैं सोचने लगा कि देखूँ मैं किस

प्रकार कीर्ति प्राप्त कर सकता हूँ ।

उसी दिन रात को मिश्रजी मेरे पास आये । उन्होंने बतलाया कि उनका एक भांजा इलाहाबाद से आया है । वह बी. ए. में पढ़ता है । वह अंगरेजी और संस्कृत में मेरी सहायता चाहता है । मैं मिश्र जी के घर गया उस नवयुवक से मेरी भेंट हुई । वह बड़ा ही सुंदर और सुशील था । मैंने उसे अंगरेजी और संस्कृत की बहुत सी किताबें खूब अच्छी तरह पढ़ाई । पंद्रह दिन के भीतर ही मैंने उसकी सब कठिनाइयाँ दूर कर दीं । वह मेरी विद्वत्ता पर मुग्ध हो गया । उसने बतलाया कि उसके पिता इलाहाबाद में किसी ऊँचे पद पर नियुक्त हैं और उसने मुझे बार बार इलाहाबाद चलने के लिये कहा । उसने कहा—“आप मेरे साथ इलाहाबाद चलिये । मैं सच कहता हूँ कि आर के समान विद्वानों का आदर वहाँ हो सकता है ।” दूसरे दिन मैं उसके साथ इलाहाबाद चला गया । इलाहाबाद में बड़े बड़े विद्वानों से मेरा भेंट हुई । मेरी असाधारण प्रतिभा देखकर सब विस्मित हो गये । सभी ने मेरा प्रशंसा की और सभी मुझे सब प्रकार से सहायता देने के लिये उत्तम हो गये । डिग्रीधारी व्यक्ति न होने पर भी मैं वहीं एक कालेज में दो सौ रुपये मासिक वेतन पर प्रोफेसर भी नियुक्त हो गया । सभी उच्चकोटि की पत्रिकाओं में मेरे विद्वत्पूर्ण लेख प्रकाशित होने लगे और शीघ्र ही मेरी सर्वत्र ख्याति हो गई । जो यश कभी मुझे दुर्लभ था, वह दो-तीन बड़े लोगों की कृपा से अनायास प्राप्त हो गया ।

यहाँ आकर कुछ दिनों तक मैंने यही अनुभव किया कि मेरे लिये अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। जीवन में जो कुछ चाहिये वह मुझे प्राप्त हो गया। पर सच पूछिये तो आवश्यकता की सीमा नहीं है एकमात्र शरीर रक्षा के विचार से यदि आवश्यकतायें निदिष्ट कर दी जाँय तो हम सभी काक-जीवन ही व्यतीत करेंगे। यही कारण है कि सभ्यता की वृद्धि के साथ आवश्यकताओं की भी वृद्धि होने लगती है। शरीर के साथ मन और मन के साथ आत्मा का ऐसा सम्बन्ध है कि हमारी सभ्यता की गति भी किसी एक निदिष्ट पथ पर नहीं बनी रहती। जीवन का अस्तित्व आनन्द की वृद्धि पर ही निर्भर है। उसी कारण हम शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक सुखों की खोज करते रहते हैं। जब तक हम ऐहिक सुखों की कामना में लीन रहते हैं, तब तक हम अपनी सारी शक्ति उन्हीं की वृद्धि में लगा देते हैं। उसके बाद जब हम मानसिक सुख चाहते हैं, तब हमारा सौन्दर्यलिप्त मन कलाओं की सृष्टि करता है। परन्तु उनमें भा अतृप्ति बनी रहती है। वहिर्जगत् की समस्त विभूतियों से भी हमें कुछ समय के बाद असंतोष होने लगता है और विराक्त। जो भी वस्तु पहले सबसे अधिक स्पृहणीय जान पड़ती है, वही फिर अत्यन्त तुच्छ और हेय हो जाती है। हम निरन्तर सौन्दर्य चिर नवीन आनन्द को स्थायित्व करने के लिये अन्तर्जगत के रहस्यागार में प्रविष्ट होते हैं। तभी हम एक अलौकिक अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति के लिए व्यग्र हो

जाते हैं। मन सचमुच बड़ा लोलुप होता है। किसी एक स्थिति में रहकर वह संतुष्ट नहीं रह सकता। एक इच्छा की पूर्ति होते ही अपने आप वह अपने लिये एक दूसरी इच्छा बना लेता है। वह इच्छा इतनी तीव्र होती है कि जब तक उसकी पूर्ति नहीं होती तब तक मन उसी में बद्ध रहता है, तब तक उसके लिये उससे बढ़कर कोई भी आवश्यकता नहीं रहती है।

मैंने एक छोटा सा बंगला किराये पर लिया। वहीं मैं पुस्तकों के अध्ययन और लेखों की रचना में निरत रहता। मुझे किसी बात का अभाव नहीं था। मुझमें विद्या थी, मेरी कीर्ति भी थी और जीवन-निर्वाह के साधारण अच्छे साधन भी थे। तो भी रात में कभी कभी जब मेरी नींद खुल जाती तब मैं एक प्रकार की शून्यता का अनुभव करता। ऐसा जान पड़ता था कि मानो मेरे हृदय में कहीं शून्यता है, कहीं रिक्तता है। अब मुझे अकारण एक उत्सुकता, एक व्यग्रता सी होती थी। वसन्त कालीन पवन के स्पर्श से मैं अस्थिर सा हो जाता था। पुस्तक बन्द कर मैं शून्य-दृष्टि से बाहर ताकता रहता। संसार मे कितनी सौंदर्य है, प्रातःकाल में कितना उल्लास है, संध्याकाल में कितनी मधुरता है, निशाकाल के निविड़ तम में कितनी रहस्यमयी श्रौ है ! मेरे मन में न जाने कहां से एक औत्सुक्य-पूर्ण अन्यमनस्कता आ जाती, एक लालसा-पूर्ण वेदना जाग उठती। मैं स्वयं नहीं समझ सकता था कि मैं क्या चाहता हूँ। कुछ दिनों के बाद अचानक हरी मोहन नामक के एक बैरिस्टर साहब के यहां से निमन्त्रण आया।

मैं शाम को उनके घर पहुँचा। वहाँ मैंने ललिता को पहली बार देखा और उसने मुझे देखा।

स्त्रियों की दृष्टि में विलक्षण शक्ति रहती है। उनका रूप हमें मुग्ध भले ही करले, पर उससे मन असंयत नहीं होता। रूप के वशीभूत होकर वह एक भक्त-उपासक की तरह अपनी उपासना में लीन होकर भी स्थिर बैठा रहता है। पर नारी की एक दृष्टि उसे चंचल कर देती है, उसे विक्षिप्त बना देती है, वह उसके अन्तर्जगत में एक ऐसी आंधी ला देती है, जिसके कारण उसके सभी भाव अस्त व्यस्त हो जाते हैं। ललिता की उस एक दृष्टि ने मेरे हृदय में एक विचित्र हलचल मचा दी थी। पर बाहर मैं शांत और सुस्थिर ही बना रहा। उसी समय बैरिस्टर साहब की दृष्टि मुझ पर पड़ी। मुझे देखकर बैरिस्टर साहब बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी स्त्री और कन्या से मेरा परिचय कराया और कहा कि भारत के श्रेष्ठ-विद्वानों में मेरी गणना है। बैरिस्टर साहब की कन्या का नाम था ललिता। उसने मुझसे कहा—पण्डितजी, मैं आपसे मिलने के लिये बड़ी अधीर हो रही थी। मैंने कलकत्ते में आपकी कीर्ति सुन ली थी। आपही के कारण मैं कलकत्ता छोड़कर इलाहाबाद में पढ़ने आई हूँ। क्या आप मेरी एक प्रार्थना स्वीकार करेंगे?’ मैंने कहा—‘आप मुझे जो आज्ञा देंगी मैं करूँगा।’ ‘उसने कहा—’ आप प्रतिदिन मुझे सात से नौ तक तीनों विषय पढ़ा दिया करें। आपको छोड़कर कोई विद्वान नहीं है, जो मुझे सभी विषय पढ़ा दे। इसीलिये मैं आपसे यह प्रार्थना कर

रही हूँ ।' मैंने उसकी बात स्वीकार कर ली । दूसरे ही दिन से मैं प्रतिदिन उसे दो घंटे पढ़ाने लगा ।

ललिता में जैसा सौन्दर्य था वैसा स्वभाव का माधुर्य भी था । उसकी बातों में इतनी सरलता थी कि पढ़ा लेने के बाद भी मैं दो दो घंटे बैठकर उससे बातें ही किया करता था । उसको पढ़ाकर जब मैं घर लौटता तब एक अद्भुत उल्लास से मेरा हृदय परिपूर्ण हो जाता । मैं बिस्तर पर लेटकर उसी की बातें सोचते सोचते सो जाता ।

प्रेम रूपजन्य है या वासनाजन्य है या मोहजन्य है यह मैं अभी तक नहीं समझ सका हूँ । उसमें क्षुद्रता है या गौरव, पवित्रता है या कालुश्य, यह भी मैं निश्चय नहीं कर सका हूँ । पर इसमें सन्देह नहीं कि ललिता से परिचित होने के बाद उसके प्रति एक प्रबल आकर्षण का भाव मेरे में आ गया ।

प्रेम एक आवेग है, एक उत्तेजना है, एक उन्माद है । वह स्वयं सौन्दर्य की सृष्टि करता है और उसकी पूजा करता है । रूप का आकर्षण प्रेम नहीं लाता । वह जो एक लालसा उत्पन्न करता है वह क्षणिक होती है । उससे वासना की जो आँधी आती है, वह प्रबल होने पर भी अधिक समय तक नहीं ठहरती । प्रेम से जो एक कामना होती है उस में सदैव अतृप्ति ही रहता है । उसी के कारण जीवनभर रूप का सौन्दर्य उस के लिये चिर नूतन बना रहता है । बार बार उसी एक रूप को देखने पर भी देखने की लालसा बनी ही रहती है । विच्छेद विरक्ति नहीं लाता वह वेदना लाता है । पर उस वेदना में भी एक मधुरता रहती

है। आज कितनी ही बातें एक एक कर मेरे मन में उदित हो रही हैं। उस दिन जब मैं अपने गाँव की एक लड़की विमला को पढ़ाने लगा, तब उसने कलकत्ते के बोर्डिंग-हाउस के जीवन का वर्णन किया। उसने मिस्ट्रेस और हेड मिस्ट्रेस की बातें बतलाई। उसने अपने उत्पातों का हाल कहा। उसने अपनी सखियों से झगड़ने और फिर मिल जाने की कथा सुनाई। उसने अपने पिकनिक और भ्रमण की बातें कहीं। वह कहती जाती थी और मैं चुपचाप उसकी बातें सुनता जाता था और बीस साल पहले का चित्र मेरी आँखों के सामने प्रकट होता जाता था। वह भी ऐसी ही बातें करती थी। वह भी ऐसी ही चंचल थी। वह भी इसी तरह आती थी, हँसती थी और पढ़ती थी। क्रमशः अवस्था की वृद्धि के साथ उसमें गम्भीरता आगई। पर उस गम्भीरता में भी एक चंचलता छिपी हुई थी। समय में परिवर्तन हो गया, पर उसकी स्तंखला नहीं टूटी। बातें करते करते कई घंटे बीत जाते थे। उनमें कुछ सार नहीं रहता था। कालिदास और शेक्सपीयर की मनोहर रचनाएँ लेकर हम लोग पढ़ने के लिये अवश्य बैठते थे, पर किताबें खोलने के पहले ही संध्या हो जाती, पर बात अधूरी ही रह जाती। तब यह निश्चय होता कि दूसरे दिन गप मारना अक्षम्य अपराध समझा जायगा, उससे विद्याध्ययन में बड़ी बाधा होती है। वह मुझी को दोष देती और मैं निर्दोश होने पर भी अपने दोषों को स्वीकार करता था। किन्तु दूसरे दिन कोई बात इतनी

आवश्यक हो जाती थी कि उसको बतलाये बिना पढ़ना हो ही नहीं सकता था । इसी तरह पढ़ने और लिखने में तीन साल व्यतीत हो गये । जब वह कुछ समय के लिये दूसरी जगह चली जाती, तब उसे पढ़ाने के लिये छुट्टी लेकर मुझे दूसरी जगह जाना पड़ता । पत्र-द्वारा यह पहले से निश्चित हो जाता कि मैं उसे दिन में केवल तीन घंटे पढ़ा दूँगा, बाकी समय निश्चिन्त होकर अपना काम करूँगा । मेरे लिये एक एकान्त कमरे का भी प्रबन्ध कर दिया जाता, जिससे मुझे किसी प्रकार का विघ्न न हो, पर वहाँ जाने पर हम लोग रात को दूसरे दिन के लिये कार्यक्रम बनाने बैठते, तो रात ही बीत जाती और निश्चय नहीं हो पाता कि साईकालोजी का कौनसा अध्याय प्रारम्भ करना पड़ेगा । कठिन तो उसके लिये एक भी अध्याय नहीं था । तब यह निश्चय होता कि कुछ रचना ही की जाय । पर बीस दिन में लेख का शीर्षक भी बन नहीं पाता था । छुट्टी खतम हो जाती, तब आते समय भविष्य के लिये वह कोई नई योजना तैयार करती ।

कोई यह न समझे कि हम लोग सरल बातें करते रहे होंगे । उन बातों से अधिक नीरस बातों की कल्पना ही नहीं की जा सकती । न शेक्सपीयर की चर्चा होती थी और न शरद बाबूकी । मलिना और यमुना के नाम तो बहिष्कृत थे । राजनीति और समाज के लिये वहाँ स्थान नहीं था । वहाँ दैनिक जीवन की छोटी छोटी बातों की ही चर्चा होती थी । जिन व्यक्तियों को मैंने कभी देखा नहीं है और न देखूँगा, उनके कार्यक्रमों की

आलोचना में मैंने रात व्यतीत कर दी है। हम लोगों की इस आलोचना से कभी कभी किसी की निद्रा में आघात होता, तब वह झिड़क कर कह देता 'किसी दूसरे को भी सोने दोगे या नहीं।' तब हम लोग सोने की फिक्र करते। पर बिस्तर तक हम लोग पहुँच ही न पाते थे कि प्रातःकाल की लालिमा फैलने लगती थी।

वह भी एक दिन था जब रसहीन, सारहीन बातों में ही मुझे बड़ा आनन्द आता था। उस समय तक मुझ में स्वार्थ की भावना नहीं थी। उस समय मुझे चिन्ता नहीं थी, अभाव नहीं था, कष्ट नहीं था। उस समय दूसरों के कष्ट मेरे कष्ट थे, दूसरों के अभाव थे मेरे अभाव और दूसरों के दुःख मेरे दुःख थे। परन्तु जब मैं अपनी चिन्ता में लीन हुआ, जब मैं अपने मानसिक ताप से उत्तप्त हुआ, तब से सब बातें भी लुप्त हो गईं। मेरे उद्धार के लिये जिस बड़े त्याग की आवश्यकता थी, वह नारियों में नहीं रहता, वह देवियों में रहता है। अतएव वह कहाँ तक मेरे उद्धार की चेष्टा करती? उसे क्रोध हुआ, घृणा हुई, विरक्ति हुई। मेरे जीवन-नाटक का एक अंक समाप्त हुआ। अब उसी की कथा बतला रहा हूँ।

कई वर्ष व्यतीत हो गये। ललिता ने बी. ए. की परीक्षा पास कर ली है। उसे अब मेरे अध्यापन की आवश्यकता नहीं रह गई है। अब जब मैं उसके घर जाता तब प्रायः उससे भेंट नहीं होती। कभी सुनता कि वह किसी सखी के यहाँ गई है, कभी सुनता कि वह किसी के यहाँ निमंत्रण में गई है। आठ-आठ दस-दस दिन बीत जाने पर कहीं उससे भेंट होती थी। उस समय

भी वह पहले की तरह बातें नहीं करती थी। वह कुछ अन्य-मनस्क-सी हो गई थी। कभी कभी वह अस्थिर-सी हो जाती और कोई बहाना बनाकर मेरे पास से उठ कर घर के भीतर चली जाती। मैं अपने मन की वेदना को मन ही में दबा कर घर लौट आता था। रात को चार-चार पांच-पांच घंटे तक मैं उसीकी बान का सोचा करता था। कालेज में भी मेरा मन नहीं लगता था। लिखने-पढ़ने से भी कुछ विरक्ति-सी हो गई थी।

अपने जीवन को सफल बनाने के लिये प्रयत्न तो सभी करते हैं, किन्तु दो ही चार सफलता प्राप्त कर पाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि लोग सफलता का यथार्थ अर्थ ही नहीं समझते। कुछ लोग विद्या की प्राप्ति में ही जीवन की सफलता समझकर उसी में आजीवन निरत रहते हैं। कुछ लोग धन को ही एकमात्र मानकर उसी में अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं। कुछ लोग कीर्ति के गौरव को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य बनाकर उसी के लिये सदा व्यग्र रहते हैं। यथार्थ में इन तीनों में से किसी में भी जीवन की सफलता नहीं। विद्या के द्वारा हमें सत्य और असत्य का ज्ञान होता है तब हम लोग अपने जीवन का यथार्थ गौरव समझ कर उसे सफल बनाने के लिये चेष्टा कर सकते हैं। विद्या सफलता का एक साधन मात्र है। इसी प्रकार धन भी, यदि उसका संग्रह एक मात्र विलास के लिये नहीं है और उचित रूप से व्यय के लिये है, एक दूसरा साधन है। जीवन सफल हो जाना के बाद कीर्ति तो स्वयं ही आ जाती है। उसके लिये व्यग्र होना उचित नहीं है।

यदि हम अपने जीवन की आलोचना करें, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि हमारा जीवन एक होने पर भी तीन पृथक् भागों में विभक्त किया जा सकता है—शारीरिक, मानसिक और नैतिक। यह तो स्पष्ट है कि शारीरिक जीवन की सफलता के लिये स्वास्थ्य चाहिये। जिसका शरीर ही अस्वस्थ है उसका शारीरिक जीवन भी व्यर्थ है। चिररोगी जीवन यापन करता हुआ भी मृत तुल्य है। इसी प्रकार मानसिक जीवन की सफलता उस ज्ञान में है, जिसने यथार्थ प्रेम की उत्पत्ति होती है, जिसके द्वारा हम सबसे पृथक् होकर भी विश्व को अपना लेते हैं। जिसका स्वार्थ जितना ही क्षुद्र है, उसका जीवन भी उतना ही क्षुद्र है। स्वार्थी मनुष्यों की उपमा हम लोग पशुओं से दिया करते हैं, क्योंकि वे लोग एक मात्र स्वार्थ-सिद्धि में ही लगे रहते हैं। इसके बाद है हमारा नैतिक जीवन, जो एकमात्र सेवा के त्याग से ही सफल हो सकता है। जिसमें यह त्याग-वृत्ति जितनी ही अधिक है, उसका नैतिक जीवन भी उतना ही ऊँचा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वार्थ, प्रेम और त्याग में ही जीवन की सफलता है। इसी को हम यों भी कह सकते हैं कि शक्ति, प्रेम और त्याग ही सफलता के सोपान हैं। किन्तु इन तीनों में परस्पर विरोध नहीं होना चाहिये। उस शक्ति से क्या लाभ जिस में प्रेम और त्याग नहीं और वह त्याग ही क्या है, जिसमें प्रेम और शक्ति नहीं। इस-लिये हम लोगों को चाहिये कि अपने जीवन को सफल बनाने के लिये इन तीनों को हम प्राप्त करें।

हम लोगों के दैनिक जीवन में इन तीनों की आवश्यकता होती है। दीपक जैसे स्नेह के द्वारा ज्योति पाता है, उसी प्रकार जीवन की ज्योति भी स्नेह से ही प्रज्ज्वलित होती है। एक बार प्रज्ज्वलित होने पर फिर वह बराबर जलती चली जाती है। यह सच है कि स्थिति में परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन कभी कभी इतना विलक्षण होता है कि स्नेह घृणा में बदल जाता है और मान अपमान और तिरस्कार में। परन्तु सभी स्थितियों का अतिक्रमण कर जो ज्योति जलती रहती है और प्रचण्ड भावों की आँधी में भी नहीं बुझती है, उसी में जीवन की यथार्थ गरिमा है। यह तो साधारण बात है कि किसी स्थिति में जो व्यक्ति आदर, स्नेह और मान पाता है, वही प्रतिकूल स्थिति में अनादर और तिरस्कार का पात्र हो जाता है। कभी कभी हम लोगों की निश्छल और निष्कपट सेवा भी विफल हो जाती है। यही नहीं, हमारे अच्छे कामों का भी विपरीत फल हो जाता है। परन्तु ऐसी अवस्थाओं में ही ज्ञान और शक्ति की परीक्षा होती है। गत वर्षों के भीतर कितना परिवर्तन हो गया है। सुख-दुःख और उत्थान-पतन की कितनी ही बातें हो गई हैं। स्नेह और तिरस्कार, सद्भाव और कुभाव सभी समय समय पर होते हैं। सुख का भी समय आता है और कष्ट का भी समय आता है। जो कुछ जीवन में अच्छा समझा जाता है वह भी मेरे जीवन में हुआ है और जो बुरा कहा जा सकता है वह भी हुआ। पर सब कुछ होने पर भी जीवन के पथ पर मैं

आगे ही बढ़ता जा रहा हूँ । अब मैं पीछे नहीं लौट सकता । जो हो गया वह हो गया । उसके लिये अब कोई उपाय नहीं है । मुझे कर्तव्यों का भार लेकर आगे ही बढ़ना पड़ेगा । विशुद्ध स्नेह में सच्ची शक्ति की प्रेरणा लीन रहती है । उसी से हम लोगों को स्फूर्ति मिलती है, उमंग होती है और एक नवीन चेतना आती है । उसी के अभाव से हम लोग एक अक्षमता का अनुभव करते हैं । कल्पना को भावुकता से स्फूर्ति मिलती है, भाव की अधिकता से कल्पना गतिशील हो जाती हैं । वह जिन स्वप्नों की रचना करती है उनमें एक मधुरता रहती है । सुख और दुःख दोनों के द्वारा उसमें एक अलौकिक रस की सृष्टि होती है । भाव के उन्माद में हम लोग संसार की यथार्थता को भूल जाते हैं । यथार्थ जगत् में जो कटुता रहती है, उसका कठोर आघात होता है; उसके कारण निन्दा अपयश, कष्ट आदि का जो कटु अनुभव होता है उस पर कल्पना एक मधुर प्रलेप लगाकर हमें आत्म-विस्मृत कर देती है । भविष्य भले ही अन्धकारमय हो वर्तमान भले ही कष्टप्रद हो कल्पना अतीत के चित्रों को ही एक सुखद रूप देकर हृदय में एक में एक मधुर व्यथा ले आती है । हम अतीत का स्मरण कर जो दुःख पाते हैं और गूढ़ मर्म—व्यथा से दीर्घ निश्वास लेते हैं, उन सबसे एक कठुण रस की रचना आपसे आप मन में हो जाती है । चिन्ता जीवन की सदैव बवाला नहीं रहती । वह किसी एक में लीन होकर जीवन में मधुरिमा ला देती है ।

मैं पढ़ता था और लिखता था। मैं जानता हूँ कि जब मुझे किसी से सच्चा सद्भाव या स्नेह या सहानुभूति की प्राप्ति हुई है तब मुझ में एक नवीन स्फूर्ति सी आ गई। आज मैं उसके अभाव को अनुभव कर रहा हूँ। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मानों मैं कुछ खो बैठा हूँ। अब इसे खोजने के लिये मुझे अन्धकार में ही भटकना पड़ेगा। जीवन के सच्चे प्रकाश का जो मूल्य है वह तो विशुद्ध स्नेह में ही स्थित है। उसी स्नेह के आधार पर कुटुम्ब, परिवार, समाज और राष्ट्र की रचना होती है। पिता-पुत्र, भाई-बहन, बन्धु-बान्धव सभी जिस स्नेह सूत्र से बद्ध होते हैं, वे ईश्वर द्वारा निर्मित हैं। मनुष्य अपने लिये जो स्नेह-सूत्र निर्मित करता है उससे वह सारे विश्व को अपना लेता है। जो विशुद्ध स्नेह होता है उसमें जाति, धर्म, परिवार किसी का भी बन्धन नहीं रहता। विद्या, धन, गौरव किसी की भी वह अपेक्षा नहीं करता। वह तो अपने में ही पूर्ण रहता है। जो ऐसा विशुद्ध स्नेह पा लेता है, उसी के जीवन में स्नेह की सच्ची वयोति जल उठती है।

मैं सोचने लगा कि यह जीवन तो बिलकुल शुष्क है। ऐसे जीवन से लाभ ही क्या है? मैं विद्वान् हो गया, मैंने कीर्ति प्राप्त कर ली, पर जीवन की सार्थकता क्या विद्या के लाभ और कीर्ति के अर्जन में ही है? एक दिन यों ही करते करते प्राण छोड़कर चला जाऊँगा। मुझे सुख क्या मिला, आनन्द क्या प्राप्त हुआ? यदि मुझे ललितता मिल जाती तो मेरा जीवन सुखमय हो जाता। वह मेरे जीवन की सहचरी होती। उसके साथ रहकर मैं न जाने

कितने बड़े बड़े काम कर डालता । उससे मुझे उम्माह होता, प्रेरणा होती, स्फूर्ति आती, पर उसे प्राप्त करना मेरे लिये संभव ही नहीं है । वह कहां एक श्री—सम्पन्न बैरिस्टर की लड़की और कहां मैं एक तुच्छ अध्यापक । शायद कोई नवयुवक उसका प्रेम-पात्र भी होगा, तभी तो वह अब मुझसे मिलती नहीं है । पर मैं तो उसका प्रेम प्राप्त करूँगा ही । चाहे जिस प्रकार हो मैं उसे अपनाऊँगा ही । मुझे अपने कांच के टुकड़े का स्मरण आया । मैं तुरन्त ही अपने कमरे के भीतर गया । सावन का महीना था । आकाश मेघाच्छन्न हो गया था । कमरे में कुछ अन्धकार सा हो गया था, परन्तु सन्दूक खोलने में मुझे कठिनाई नहीं हुई । मैंने तुरन्त ही सन्दूक खोलकर कांच निकाला और सहसा कह उठा—‘मैं चाहता हूँ कि ललिता मुझे को चाहे, सभी अवस्थाओं में वह मुझे ही प्यार करे ।’ मैंने इतना कहा ही था कि आकाश से सहसा मेघ का घोर गर्जन हुआ और बिजली तड़प उठी । कुछ डर कर मैं कांप उठा और मेरे हाथ से वह कांच का टुकड़ा गिर पड़ा । उसी समय कांच का तीसरा भी टुकड़ा निकल गया । मैं चुपचाप खड़ा खड़ा उसी की ओर देखता रहा ।

कुछ देर के बाद मैं सोने के लिये चला गया । दूसरे दिन मैं बैरिस्टर साहब के बंगले पर गया । वहां मालूम हुआ कि बैरिस्टर साहब सपरिवार कल ही दोपहर की गाड़ी से गोरखपुर चले गये हैं । मैं विषण्ण होकर लौट आया । किसी तरह मैं कालेज गया और पढ़ाकर चुपचाप लौट आया । वहां मुझे एक चिट्ठी मिली ।

मैंने चिट्ठी खोली । वह ललिता की चिट्ठी थी । उसमें लिखा था—

प्रिय पण्डितजी,

यह चिट्ठी पढ़कर न जाने आप मुझे क्या समझेंगे, परन्तु अब आप जो चाहे समझें मैं आपको अपने मन की बात बतलाती हूँ । अब यह बात मेरे लिये छिपाकर रखना असम्भव हो गया है । मैं आपको चाहती हूँ । आपके बिना मैं एक क्षण भर भी नहीं रह सकती । दो वर्ष तक मैंने किसी तरह अपना यह भाव छिपा रखा । मैं मनहीमन आपको अपना हृदयेश्वर बनाकर आपकी पूजा किया करती थी, परन्तु अब पूजा से मुझे संतोष नहीं है । मैं अब आपको अपना बनाना चाहती हूँ । आपको मुझसे मिलना ही पड़ेगा । किसी भी अवस्था में रहूँ, आप मेरे ही रहेंगे और मैं आपकी रहूँगी । आप गोरखपुर में एक दिन के लिये अवश्य आवें । विशेष बात मैं मिलने पर कहूँगी ।

आपकी ललिता

पत्र पढ़कर मैं चकित हो गया । मेरी इच्छा इतनी शीघ्र सफल हो जायगी यह मैं नहीं सोचता था । परन्तु अब मुझमें कुछ विशेष सोचने या समझने की शक्ति नहीं रह गई । प्रेम की यह वासना विवेक और बुद्धि को पहले ही नष्ट कर देती है । मैं तो अपना सब कुछ ललिता में ही खो बैठा था । उस दिन मैं छुट्टी लेकर गोरखपुर चला गया । वहीं एकान्त में ललिता से भेंट की । ललिता को पाकर मैं कृतार्थ हो गया । ललिता ने कहा—‘आप जानते हैं कि बैरिस्टर होने पर भी मेरे पिता समाज के बन्धन

को मानते हैं। मैं नहीं समझ सकती कि वे कभी हम दोनों को प्रेम सूत्र में बंधने देंगे। इसीलिए आइये हम लोग इसी नदी-तट पर सूर्यास्त के समय भगवान सूर्य को ही साक्षी बनाकर यह प्रतिज्ञा कर ले कि सभी अवस्थाओं में हम दोनों एक रहेंगे, समाज का कोई भी बन्धन हम लोगों का पृथक् नहीं कर सकेगा। यह धर्म हो या अधर्म, पाप हो या पुण्य मैं आज सूर्य को साक्षी बनाकर अपने आप को तुम्हें समर्पित कर रही हूँ। बोलो, क्या तुम भी इसी प्रकार अपने को मुझे दे डालोगे ?' मंत्र-मुग्ध की तरह मैंने उसकी सब बातें स्वीकार करली और उसी दिन से सब अवस्थाओं में हम दोनों एक हो गये। प्रेम की विजय हो गई। कर्तव्य, ज्ञान और समाज सभी पराभूत हो गये। पर उस प्रेम में भीरुता थी। न मुझमें इतना साहस था और न ललिता में इतनी दृढ़ता थी कि हम लोग अपने प्रेम को सबके सामने प्रकट कर सकें। उसे हम लोगों ने गुप्त ही रखा।

बैरिस्टर साहब के प्रयत्न करने पर भी ललिता का विवाह-सम्बन्ध किसी स्वजातीय युवक से स्थिर न हो सका। मैं बैरिस्टर साहब का बड़ा विश्वास-पात्र था। उन्होंने अपनी चिन्ता मुझे बतलाई। उनकी एकही लकड़ी थी। वे चाहते थे कि वे शीघ्र उसका विवाह कर संसारिक प्रपंच से दूर हो जाँय। उन्होंने यथेष्ट सम्पत्ति इकट्ठी करली थी। अब वे अपना व्यवसाय छोड़-सा चुके थे। वे अब सब चिन्ताओं से निवृत्त होकर भगवान की भक्ति में अपना शेष जीवन व्यतीत करना चाहते थे। इसीलि-

उन्होंने मुझे भी ललिता के विवाह के लिये प्रयत्न करने को कहा। मैं मन ही मन हँसता रहा। मैं जानता था कि ललिता का विवाह किसी अन्य से संभव भी नहीं है।

तीन वर्ष व्यतीत हो गये और वे ऐसे आमोद-प्रमोद में व्यतीत हो गये कि मुझे जान ही नहीं पड़ा कि कब तीन वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन अचानक हृद्गति रुक जाने से बैरिस्टर साहब की मृत्यु हो गई। ललिता अकेली हो गई। उसकी माँ की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। अब मैं निर्विघ्न रूप से घर जाने लगा। परन्तु मुझे अपने मन में एक ग्लानि हो रही थी। उसका कारण था मेरी हीन आर्थिक स्थिति। यद्यपि मेरे लिए दो सौ रुपये यथेष्ट थे तो भी ऐश्वर्य के जिस वातावरण में ललिता का पालन हुआ था उसमें दो सौ का कोई मूल्य नहीं था। उसके यहां उसके जो रिस्तेदार आते थे वे सभी श्री—सम्पन्न थे। ललिता जब उनसे मेरा परिचय कराती तब मुझे अपनी हीनता का अनुभव होता। प्रेमी अपनी प्रियतमा की दृष्टि में दीन अथवा हीन नहीं होना चाहता। मैं ललिता को बहुमूल्य उपहार देना भी चाहता था, इसलिये एक दिन बहुत अस्थिर होकर मैंने फिर उस काँच के टुकड़े को लिया और यह इच्छा कि की मुझे शीघ्र ही रुपये पैदा करने के साधन मालूम हो जाय, जिससे मैं जो चाहूँ ले सकूँ। उस समय बड़े वेग से हवा बही। खिड़कियाँ खड़ खड़ आवाज कर बन्द हो गई। मुझे ऐसा जान पड़ा कि मानों कोई भयावह दैत्य उस घर में प्रविष्ट हो रहा है। मैं चुपचाप खड़ा

रहा और फिर टूट कर काँच का एक टुकड़ा अलग हो गया ।

तरुणावस्था में सदैव एक क्षिप्रकारिता रहती है । उसी अवस्था में स्वेच्छाचारिता और उच्छृंखलता ही स्पृहणीय होती है । विध्वंस की एक प्रवृत्ति स्ततः प्रकट होती है । अपने आपको भ्रम में डालने के लिये एक इच्छा होती है । लोक-मर्यादा और नीति असह्य हो जातो है । इसलिये जुये और शराब की ओर तरुणों की स्पृहा हो जाती है । वृद्धों के चिर संचित धन और धर्म दोनों को उपेक्षणीय समझकर प्रायः सभी तरुण एक आवेग, एक स्फूर्ति और एक उत्तेजना का अनुभव करने के लिये जुए और शराब दोनों ग्रहण कर लेते हैं । जो धनी नवयुवक एक महीने में दो सौ रुपये केवल सिगरेट में खर्च कर देता है उसे आठ आने जीत जाने पर बड़ा उल्लास होता है । उसका एकमात्र कारण यह है कि वे एक उत्तेजना के आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं, जो अन्य लौकिक कार्यों से उपलब्ध ही नहीं हो सकता । तभी तो अधिकांश धनी युवक जुआ खेलते हैं और शराब भी पीते हैं । अभी तक मैं इन दोनों दोषों से मुक्त था; क्योंकि मुझे उत्तेजना की कोई आवश्यकता नहीं थी ।

एक रात को मेरे एक मित्र मुझे अपने घर बुला ले गये । वहाँ उनके दो-चार मित्र और भी आ गये । कुछ देर तक गप होने के बाद उन लोगों ने ताश खेलने की इच्छा प्रकट की । मैं ताश के खेल से अनभिज्ञ नहीं था । उनके आग्रह से मैं भी खेलने के लिये बैठ गया । ताश का वह खेल एक प्रकार का

जुआ ही था। पहले तो वह विनोद के लिये शुरू किया गया, पर थोड़ी ही देर के बाद वह जुये में परिणत हो गया। उस खेल में मेरी हार तो न होती थी, मैं जीतता ही जाता था। मेरे सभी साथी मेरे भाग्य की प्रशंसा करने लगे। रात भर खेल होता रहा। सुबह जब मैं उठा तब मैंने देखा कि मैंने ६००० रुपये जीते हैं। जब मैं घर लौटा, तब मुझे एक नशा सा छा गया। मैंने चार हजार रुपये के कुछ गहने लेकर ललिता को दिये। ललिता ने उसे ले तो लिया, पर उसे आश्चर्य हुआ कि मैं इतने गहने कहाँ से पा गया।

नल और युधिष्ठिर का द्यूत-प्रेम पौराणिक कथाओं में प्रसिद्ध है। समस्त ऐश्वर्य से युक्त होकर भी वे लोग किस आशा से प्रेरित होकर द्यूत खेलने में प्रवृत्त हुए, किस कामना से वे हंसते हंसते अपना सर्वस्व खो बैठे और फिर सब कुछ हार कर उन्होंने चुपचाप क्यों अपमान का कष्ट सह लिया? क्यों द्यूतके कपट-जाल का विरोध वे नहीं कर सके? द्यूत को कदाचित् वे भाग्य-लक्ष्मी की एक विनोद पूर्ण लीला समझते थे। कदाचित् इसीलिये लक्ष्मी पूजा के अवसर पर छोटे-बड़े सभी लोग द्यूत खेला करते हैं। लक्ष्मी चंचला है, वह मनुष्यों के भाग्य के साथ खेलती रहती है। क्षणभर किसी का उत्थान कर जब वह उसको पतन के गर्त में गिरा देती है, तब वह अपनी शक्ति में कदाचित् गौरव का अनुभव करती है। यदि जीवन में लक्ष्मी का यह चंचल विलास न होता तो यह जीवन भी बड़ा शुष्क हो

जाता । उसी के कारण जीवन क्षण क्षण परिवर्तित होता रहता है, उसीसे हममें आशा के उल्लास के साथ आशंका की व्यग्रता रहती है । एक उन्माद, एक उत्तेजना और एक मोह के वशीभूत होकर हम हँसते हँसते सर्वनाश के पथ पर चले जाते हैं । हम उसे स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं । बुद्धि को हम तिरस्कृत कर देते हैं, दूरदर्शिता को हम अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं और सुनीति तथा सदाचार की शिक्षा का हम उपहास करते हैं । उत्तेजना के उस्क्षणिक उल्लास में हम अपनी सारी गरिमा को खोकर भी जीवन की साथेकता समझते हैं । मुझे तो अपना यह समस्त जीवन ही भाग्य का एक खेल सा प्रतीत होता है । मनुष्य अपने जिस पुरुषार्थ का गर्व करता है वह सचमुच तुच्छ होता है । जब तक हमें अपने कामों में सफलता मिलती रहती है, तब तक हम बराबर उन्नति के शिखर पर चढ़ते चले जाते हैं । पर ज्योंही हमें किसी अदृष्ट शक्ति के कारण विपरीत स्थिति का सामना करना पड़ता है, त्योंही हमारे सभी प्रयत्न विफल हो जाते हैं । उस समय हमारा पुरुषार्थ कोई काम नहीं देता, हमारी सारी शक्ति नष्ट हो जाती है और हम सहसा गर्त में चले जाते हैं । संसार में विज्ञ जिसे पुरुषार्थ मानते हैं, वह यथार्थ में सफलता पर ही निर्भर है । जब तक मनुष्य सफल होता रहता है, तभी तक उसकी वह पुरुषार्थ-गरिमा बनी रहती है, विफल होते ही उसकी वह सारी गरिमा आपसे आप नष्ट हो जाती है । सारे यूरोप को विजित कर नेपोलियन ने जो गरिमा प्राप्त की थी, वह एक ही विफलता

से नष्ट हो गई । हिटलर और मुसोलनी भी अपने जिस पुरुषार्थ के बल से गौरव के उच्च शिखर पर चढ़ गये थे उनका वह पुरुषार्थ उनको पतन से नहीं बचा सका । समय का यह जो वैपरीत्य है वह किस पर निर्भर है, इसे कोई भी निश्चय पूर्वक नहीं बता सकता । वही अर्जुन और वही गांडीव धनुष रहने पर भी जब पराजय का समय आया, तब अर्जुन को भी पराजय का अपमान सहना पड़ा । मैं भी तो आज अपने जीवन की बाजी लगा कर किसी एक पर विजय प्राप्त करने के लिये खेल रहा हूँ ।

मैं बराबर उसी मित्र के यहां जाता था । नगर के सभी धनी युवक खेलने के लिये वहां आते थे । मैं प्रति दिन वहां जीतता था । मुझे अब रुपयों का अभाव नहीं रहा । मैंने एक मोटर खरीद ली, भोग विलास की सभी चीजें मेरे पास हो गई, पर कुछ दिनों के बाद मेरे सिर में कुछ दर्द होने लगा । एक दिन मैं दर्द के कारण अपने मित्र के यहां नहीं जा सका । मेरे मित्र खुद आये और कहने लगे—‘आज कलकत्ता से खेलने के लिये मेरे मित्र आये हैं, तुम अगर नहीं जाओगे तो खेल जमेगा ही नहीं, । मैंने कहा—‘मेरा सिर दर्द के कारण फटा जा रहा है । लगातार रात-रातभर खेलने का यही परिणाम है ।’ मेरे मित्र ने कुछ सोच कर कहा—‘अच्छा मैं एक दवा लाता हूँ । तुम उसे पीकर देखो । अगर पीने के बाद अच्छा लगे तो चलना ।’ वह बाहर चला गया और कुछ देर के बाद उसने एक गिलास में दवा ला कर दी । मैं उसे पी गया । पीते ही मुझ में एक स्फूर्ति सी आ गई, मुझे अच्छा

लगने लगा और मैं अपने मित्र के साथ चला गया। वहाँ से जब मैं खेल कर लौटा तब मुझे कुछ शिथिलता सी मालूम हुई। मेरे मित्र ने फिर एक गिलास में दवा लाकर दी। मैं उसे पी गया और फिर उससे मैं चैतन्य हो गया। उस दिन से कुछ शिथिलता मालूम होने पर मैं अपने मित्र के पास चला जाता और वहाँ वह दवा पिया करता। एक दिन मेरे मित्र ने ण्डस्की और सोडा की एक एक बोतल लाकर रख दी और कहा—‘बुद्धू बाबू, यह है तुम्हारी दवा। मैं रोज तुम्हें कहीं से दवाई पिलाऊँ। तुम खुद खरीदा करो और पिया करो।’

उसी दिन से मैं सुरा-देवी का भक्त बन गया। शराब की मात्रा बढ़ने लगी। खेल का जोश भी बढ़ने लगा। हम लोग सभी सभ्य और शिक्षित थे। जुआड़ियों में जो एक लोलुपता और वीभत्सता रहती है, वह हम लोगों में नहीं थी। ‘जुआड़ी’ हम लोगों के लिये अपमानजनक शब्द था। हम लोग हार कर उत्तेजित होते थे और जीत कर उन्मत्त हो जाते थे। उत्तेजना और उन्माद में ही तो तारुण्य रहता है। हम लोग अपने जीवन में इस खेल के कारण अपने इसी तारुण्य का अनुभव कर रहे थे। मेरे जो धनी साथी मुझसे हजारों रुपये हार गये थे, वे ही मेरे सबसे बड़े भक्त हो गये थे। उनमें मेरे प्रति विद्वेष का भाव नहीं था। मैं उन्हीं के रुपये जीतकर उनको जो शराब पिलाता था उससे हम लोगों में बन्धुत्व बढ़ता था। एक दिन दोपहर को मेरे घर अचानक ललिता आ गई। वहाँ उसने मुझे शराब के नशे में

बेहोश देख लिया । उसे बड़ा दुःख हुआ । क्रमशः उसे मेरे जीवन की सभी बातें मालूम हो गई । एक दिन वह मेरे कमरे में एक बक्स लेकर आई और कहने लगी—‘देखो’ मैं तुम्हें चाहती हूँ । तुम्हारे ही कारण मैंने विवाह तक नहीं किया. लोक-निन्दा तक सहली । मेरा तो प्रेम कम नहीं हो सकता, परन्तु अब मैं तुमसे नहीं मिलूँगी । तुम शराबी हो, तुम जुवाड़ी हो, तुम अधोगति की अंतिम अवस्था में पड़े हुये हो । अपने ये गहने रखो, अब मैं चली ।’

नशे की अवस्था में मैं उसे कुछ उत्तर भी नहीं दे सका । वह क्रोध से उन्मत्त होकर उसी दिन इलाहाबाद छोड़कर किसी दूसरी जगह चली गई । मुझे दुःख हुआ, पर मेरे लिये कोई दूसरा उपाय नहीं था । अपना दुःख भूलने के लिये मैं और भी अधिक शराब पीने लगा अन्त में मैं एक वेश्या के यहाँ भी जाने लगा । मैं उसी के प्रेम-पाश में फँस गया । एक दिन मैं नशे के आवेश में सन्दूक टटोलने लगा । सहता उसी काँच के टुकड़े पर मेरा हाथ जा पड़ा । मैंने उसे उठा लिया । मुझे फकीर का याद आई । सचमुच अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर मैं पतन के गड्ढे में पहुँच गया था । खैर, मेरा तो सर्वनाश हो गया, उस ललिता का सर्व-नाश क्यों करूँ । मैंने अन्त में अपनी यह इच्छा प्रकट भी की कि मुझ पर ललिता को जो मोह है वह दूर हो जाय और वह विवाह कर सुखी हो जाय । मेरे मुँह से ये शब्द निकले ही थे कि खट से काँच का एक टुकड़ा और अलग हो गया । मैंने गिन कर देखा कि काँच के छः टुकड़े हो गये हैं । पर अन्तित टुकड़ा

काला है। मैं सोचने लगा कि भगवान की क्या इच्छा है। मैंने पीड़ित होकर कहा—‘हे भगवान, मैं तो पापी हूँ। आप अब मेरी रक्षा कीजिये, मुझे सद्बुद्धि दीजिये।’ यह कहते ही वह काला टुकड़ा चमकने लगा। दूसरे दिन कालेज से मुझे नोटिस मिल गया और मैं इलाहाबाद छोड़ कर फिर अपने गाँव में आ गया। मैं अभी तक अपने गाँव में ही हूँ और किसी प्रकार अपना जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। प्रतिदिन रातको भगवान से मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि हे भगवान, मैं तो पापी हूँ, मुझे सुबुद्धि दीजिये। यहीं आने पर मुझे गोरखपुर से एक निमंत्रण पत्र मिला। उससे मालूम हुआ कि ललिता का विवाह डाक्टर लोचनशरण से हो रहा है। मेरे जीवन-नाटक का अन्तिम अंक समाप्त हुआ।

और लोग चाहे अलक्षित शक्ति की विद्यमानता पर विश्वास न करें, पर मैं तो विश्वास करता हूँ। यह सच है कि मेरे हृदय में उद्दाम वासना प्रकट हुई थी, वह मेरी भावना का फल था। संसार में रहकर यदि कोई विशुद्ध प्रेम पा सकता है, तो भगवान में ही पा सकता है। विशुद्ध आनन्द भी वहीं उसे उपलब्ध हो सकता है। मैंने उसे सांसारिक कामनाओं की वृप्ति में ही पाने की चेष्टा की। परिणाम यह हुआ कि मेरा जीवन कालुष्यमय हो गया। कभी कभी मैं ऐसा सोचता हूँ कि यदि साहित्य की ओर वाल्यावस्था से मेरी प्रवृत्ति न हुई होती, और मैं इलाहाबाद न गया होता, तो मेरी यह वासना भी कदाचित्त आपसे आप लीन हो गई होती।

आज मैं अपने गांव में ही अपने जीवन का अन्तिम काल व्यतीत कर रहा हूँ। जब मुझे यहीं रहना था, तो मैं क्यों यह स्थान छोड़कर इलाहाबाद चला गया ? मेरे लिये यहाँ सभी प्रकार की सुविधायें थीं। यदि मैं यहीं बना रहता तो अपने अन्य साथियों की तरह मेरे भी जीवन में एक स्थिरता आ जाती। अन्य लोग जैसे अपना काल यापन कर रहे हैं, वैसे ही मैं भी अपना काल यापन करता और तब क्यों यह कष्ट होता, क्यों यह अशान्ति होती ! परन्तु जिससे मेरा यह भविष्य-भाग्य निर्मित होना था, जिसके कारण मुझे अपने जीवन में ताप, हीनता और ग्लानि लेकर अभिशप्त की तरह जलना था, वह तो यहाँ थी ही नहीं। वह वहीं थी। इसीलिये अपना सब कुछ छोड़कर वहीं जाना पड़ा और जो मेरे लिये बिल्कुल अपरिचित, अज्ञात और अदृष्ट थी, वही नदी की उद्दाम धारा की तरह मुझे अपने साथ बहाकर ले गयी। मैं बहता चला गया। एक बार कीचड़ में पैर धँस जाने के कारण मैं उसी में लिप्त हो गया, वह धारा मुझसे दूर हट गई। अब मेरे और उसके बीच में पंकमय विस्तृत क्षेत्र है। मैं कहीं भी जाऊँ, मुझे उसी पंकमय पथ पर चलना पड़ेगा। इस से अब मेरा उद्धार नहीं है। दूरके नदी की ध्वनि अवश्य सुनाई पड़ती है, पर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि वह भी मुझे अभिशाप दे रही है।

सत्य और झूठ

संसार में पाप और पुण्य की ऐसी कितनी ही घटनाएँ होती हैं। उसी प्रकार व्यभिचार और दुराचार की कितनी ही लीलाएँ होती हैं, पर मुझको सबसे रहस्यमय जीवन अपने नगर की देवकी नाथ की एक स्त्री का प्रतीत हुआ। एक उच्च कुल का युवक उसके प्रेम या मोह में पड़कर अपना कुल गौरव नष्ट कर रहा था। इसीसे एक दिन सहसा भेंट होने पर मैंने जब देवकी को सच्ची बात कहने के लिये कहा तब क्षणभर वह रुक गई। फिर देवकी ने कुछ तीव्र स्वर से कहा — 'यदि मैं सच्ची बात कहूँगी तो क्या तुम विश्वास करोगे? सच्ची बात तो यह है कि तुम सभी लोग झूठ बातों को पसन्द करते हो झूठी कहानियों में ही विश्वास करते हो, झूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हो। मिथ्या अभिमान से ही तुम्हें आनन्द होता है। कब तुम लोगों ने सत्य के लिये आग्रह प्रगट किया है? कब तुम लोगों ने सत्य को अपनाने का प्रयत्न किया है? दूसरों की झूठी निन्दा की बातें सुनकर क्या तुम्हें प्रसन्नता नहीं होती। अपने सम्बन्ध में दूसरों को झूठी बातें कहकर दूसरों को विश्वास दिलाने का क्या तुम प्रयत्न नहीं करते? दूसरों को तो तुम मिथ्या दोष लगा देते हो परन्तु क्या तुमने अपने अन्तस्थल की कभी परीक्षा की है?

क्या तुमने कभी इस पर विचार किया है कि तुम स्वयं अपने को और दूसरों को कितना धोखा दे रहे हो ? और तब भी मुझसे पूछते हो कि मैं तुम्हें सच्ची बात बताऊँ । सच्ची बात यह है कि सत्य के आलोक में तुम लोगों का मिथ्या जाल छिन्न भिन्न हो जायगा । तुम लोग अपने यथार्थ रूप को देखकर कांप उठोगे । किसी न किसी दिन सबको धर्मराज के आगे सत्य की परीक्षा देनी पड़ेगी । आज तुम भले ही अपने मिथ्या गौरव को लेकर वड़े बने रहो, आज तुम भले ही दूसरों की निन्दा कर अपने मन में मिथ्या गौरव का अनुभव कर लो । आज भले ही महापुरुष बनकर तुम धन कमालो । उच्च पद पालो, जो चाहे कर लो, पर सच्ची बात यह है कि सत्य की कसौटी पर कसे जाने पर तुम क्या संसार के कितने ही महापुरुष खरे नहीं निकलेंगे ।

देवकी यह कहकर चुप हो गई । मैं उसकी बातें सुनकर आवाक रह गया । मुझसे कुछ उत्तर देते नहीं बन पड़ा । मैं चुपचाप ज्यों का त्यों खड़ा रहा देवकी ने फिर कहना आरम्भ किया । मैं तुम्हारे नगर में पांच साल तक रही । मैं तुम्हारे नगर की कितनी देवियों को भी जानती हूँ । तुम तो शायद भूल गये होगे । पर मैं अभी तक कई बातें नहीं भूल सकी हूँ । एक दिन तुम्हारे ही नगर में तुम्हीं लोगों के बीच आठ ही बजे रात को बाजार के भीतर एक लड़की को पटककर एक युवक ने उसकी दुर्दशा कर दी, पुलिस में खबर देने पर उस नवयुवक का कुछ भी नहीं हुआ क्योंकि गवाह नहीं मिले । मुझे मेरे ही घर में पचीस लोगों

के सामने मेरे ही एक प्रेमी ने क्योंकि तुम सभी लोगों ने उसको मेरा प्रेमी बतलाया, मुझे निर्दयता पूर्वक पीटा पर पुलिस में रिपोर्ट करने पर कुछ भी लाभ नहीं हुआ क्योंकि मुझे भी कोई गवाह नहीं मिला । पर अदालत में झूठे गवाहों का अभाव नहीं है । तिल को तो तुम ताड़ बना देते हो पर ताड़ को ताड़ कहने का साहस तुममें नहीं है । तुम दूसरों को तो कलंकित कर सकते हो पर सच्चे अपराध को प्रमाणित नहीं कर सकते । तुम लोगों की दृष्टि में मैं एक वेश्या हूँ । मैं भी स्वीकार करती हूँ कि मैं सती नहीं हूँ । पर तुम्हारे समाज के बड़े बड़े लाल और रत्न भी तो अधम हैं । और मुझसे भी अधिक अधम काम करनेवाली कितनी ही ऐसी हैं जो महापुरुषों की गृहणियाँ बनी हुई हैं । जिन्हें तुम उच्च कुल सम्भूत समझते हो उनकी लीलाएं क्या तुमसे छिपी हैं । स्वार्थ वश और नीच वासनाओं की पूर्ति के लिये तुम्हारे बड़े घरों की स्त्रियाँ क्या नहीं करती ? सच तो यह है कि पुरुष स्त्रियों का शिकार करते हैं और स्त्रियाँ पुरुषों का शिकार करती हैं पुरुष स्त्रियों को बिगाड़ती हैं मैं किसी को दोष नहीं देती पर तुम लोगों की झूठी बातें सुनकर मेरे शरीर में आग लग जाती है । फिर भी तुम सत्य की महिमा गाते फिरते हो । अपनी वासना को प्रेम करते हो, अपनी उच्छृंखलता को न्याय और प्रतिरोध बतलाते हो, अपने अंसयम का गर्व करते हो । यदि आज मैं सब की सच्ची सच्ची बात कह दूँ तो क्या तुम उन्हें सुनना पसन्द करोगे ? परन्तु मैं किसी की बात नहीं कहूँगी । मुझे कहने की आवश्यकता ही क्या है । तुमने सच

पर इतना जोर देकर पूछा इसलिये मुझे इतना कहना पड़ा। पर मैं तुम्हें अपनी सच्ची बातें बताऊँगी।

संसार मैं सभी प्रकार के लोग रहते हैं। सभी अच्छे नहीं होते और सभी बुरे नहीं होते। सभी में कुछ न कुछ अच्छाई रहती है और कुछ न कुछ बुराई। मैं जब तुम्हारे नगर में आई तब मेरी चंचलता को देख कितने ही लोगों का मन मुझ पर ललचाया। मैंने किराये का एक मकान ले लिया। उसमें मैं अकेली रहती थी। कोई मेरा संरक्षक था नहीं। सभी जगह आती जाती थी क्योंकि सभी जगह आना ही जाना पड़ता था। इसीलिए मैं चने बनाकर बेचा करती थी। अपने रूप और अवस्था के कारण मैं जानती थी कि मुझे ग्राहकों का अभाव नहीं रहेगा। यही कारण था कि मैं तुम्हारे नगर में तीन रुपये कमा लेती थी। कितने ही पढ़े लिखे लोग पचीस पचीस रुपये के लिये भटकते हैं, मारे मारे फिरते हैं परन्तु मैं घर बैठे बैठे ८०-९० रुपया महीना कमा लेती थी। मैं सभी लोगों का मन बहलाती थी। सभी लोगों से दिलगी करती थी। सभी लोगों से मिलती थी और सभी लोगों से ऐसा व्यवहार करती थी कि सभी समझते थे कि वे एकमात्र मेरे प्रेमी हैं। मैं सभी लोगों का खिलौना बन गई थी। पर सचमुच में वे ही मेरे लिये खिलौने थे। उन्हींको लेकर मैंने अपना एक ही संसार बनाया जिसमें तुम्हारे लिये सब कुछ सच होने पर भी मेरे लिये एक भी बात सच नहीं थी। क्या तुम विश्वास करोगे कि उनमें से एक भी मेरा प्रेमी नहीं

था। उन्हें प्रेम का प्रलोभन देकर मैं उन्हें अपने से दूर रखती थी और उन सभी में एक प्रतिद्वन्द्विता का भाव पैदाकर मैं बड़ी कुशलता से अपनी रक्षा कर लेती थी। मेरे लिये यह आवश्यक था कि मैं एक विशेष पुरुष को अपना प्रेमी बनाऊँ। क्यों आवश्यक था, यह बात मैं पीछे कहूँगी। मैं इसी के लिये तुम्हारे नगर में आई थी। पर, मैं स्वयं अपनी ओर से उसके पास न जाना चाहती थी। मैं यह चाहती थी कि वह स्वयं आकृष्ट होकर मेरे पास आये। मैं शराब नहीं पीती, तुम यह बात नहीं मानोगे, पर है यह सच्ची बात। मैं शराब की दुकान पर जाती थी, दूसरों को शराब पिलाती थी, खुद शराब खरीद कर लाती थी। मतवाली होने का स्वाँग करती थी, पर मैं शराब नहीं पीती थी। धीरे-२ मेरी सुकोर्ति या दुष्कीर्ति तुम्हारे नगर में फैलने लगी और धीरे-धीरे भले आदमियों के लड़के भी आने लगे। मैं ताक में थी। मैं जानती थी कि ठाकुर साहब उस विशेष पुरुष के मित्र हैं। एक बार मेरे एकी प्रेम के साथ वे अचानक आ पड़े। मैंने उनका विशेष आदर किया। मैं उनके लिये बढ़िया शराब लाई और उनको यह आश्वासन दिलाया कि जरूरत पड़ने पर वे अपने मित्रों के साथ मेरे घर में आकर आमोद-प्रमोद कर सकते हैं। वे मेरे कपट जाल में आ गये। अगले उसी मित्र के साथ आये। तुम उसे अच्छी तरह जानते हो; क्योंकि तुम सभी लोग उसे मेरा प्रेमी कहते आये हो और उसीके कारण दूसरे प्रेमी ने मुझे वह दण्ड दिया जिसे न तुम भूलें होगे और न मैं जिसे भूल सकती हूँ।

खैर मेरा वह प्रेमी आ गया जिसके लिये मैं चिन्तित थी, जिसके लिये मैं तुम्हारे नगर में आई थी। मैंने उसका विशेष आदर किया। उससे अपना सम्बन्ध बढ़ाया और इतना घनिष्ठ कर लिया कि वह प्रतिदिन मेरे घर आने लगा। मैं उसके लिये शराब लाती थी, तरह तरह के खाने पीने की चीजे बनवा कर लाती थी, मौका पड़ने पर उसे पांच-दस रुपये भी दे देती थी, और सदैव उसकी सेवा में रहती थी। मैंने कभी उससे एक पैसे की भी याचना नहीं की, और किसी न किसी बहाने उसे कुछ न कुछ दे देती थी। बढ़िया बूट और बढ़िया शूट तक बनवा कर मैंने उसे दिये हैं। मैं उसके चरणों की दासी बन गई थी। वह समझता था कि उसने अपने रूप-गुण के कारण मुझ पर विजय प्राप्त कर ली है। वह मेरे उपहारों को अपना अधिकार समझ कर निस्संकोच ले लेता था। उसने अपने आपको उपन्यास का एक नायक मान लिया था, जिस पर रीझ कर एक वेश्या अपना सब कुछ न्योछावर कर रही थी। पुरुषों का यही बड़ा दम्भ रहता है, और इसीसे उनका पतन भी होता है। पर मैं तो उसे खूब अच्छी तरह समझती थी। मैं जानती थी कि नगर के जेल में उसका प्रभाव था। वहां वह मेरे अनुरोध से एक कैदी पर विशेष कृपा करने लगा। मैं जब तक तुम्हारे नगर में रही तब तक उस कैदी को कुछ भी कमी नहीं हुई। वह कैदखाने में अबश्य रहा, पर उसे घर से भी अधिक सुख मिला। पांच साल व्यतीत होने पर वह कैद से छूट कर नादगांव आ गया और अब

वह सुख से वहीं जीवन व्यतीत कर रहा है। उसके चले जाने पर मुझको तुम्हारे नगर से विरक्ति हो गई और अपने प्रेमियों से घृणा। मैंने एक-एक कर अपने सभी प्रेमियों का अपमान किया। सभी एक-एक कर हट गये। पर एक के सम्बन्ध में मैं धोखा खा गई। वह थे वही पुराने प्रेमी जिसके कारण मैं ठाकुर साहब से मिल सकी थी। मैंने उसकी उपेक्षा की, उसने ध्यान नहीं दिया। मैंने उसका अपमान किया, उसने परवाह नहीं की। मैं उसके सामने एक दूसरे पुरुष से बातें करती रही, पर वह मन ही मन क्रुद्ध होकर रह गया। मैंने तब उससे लड़ाई की और तब उसने मुझे पीट दिया। वह मेरे घर को छोड़ता ही नहीं था। मैं आफत में पड़ गई, 'तुम्हें' यह मालूम है। अन्त में मैंने अपने उसी कैदी को पत्र भेजा। उसने मेरे लिये गाड़ी भेजी और तब मैं तुम्हारे नगर से भाग कर यहां चली आई। यहां आने पर मुझे मेरे पुराने प्रेमी से तो छुटकारा मिल गया, पर अपने उस नये प्रेमी से मुक्ति नहीं मिली। मैं पांच साल तक उसके चरणों की दासी थी। वह भला मुझे कैसे छोड़ता। वह अपनी नौकरी छोड़ कर यहां चला आया। मैंने उसे लाख समझाने का प्रयत्न किया, पर वह मेरी बात मानता ही नहीं। मैं जानती हूं कि वह उच्च कुल का लड़का है। तुम्हारा कहना भी मैं स्वीकार करती हूं कि तुम्हारे कारण वह पागल हो गया है। और आज तुम उसी के कारण मेरे पास आये भी हो और मुझसे सच्ची बात जानना चाहते हो। सच्ची बात यह है कि वह कैदी ही मेरे जीवन का

सर्वस्व है । मेरा प्राणनाथ है, मेरा पति है, मेरा स्वामी है । वह निरपराध रहने पर भी एक मामले में फंस गया और उसे तुम्हारे नगर में जेल की सजा हो गई । इसी लिये मैं तुम्हारे नगर में गई थी । गरीब होने के कारण उसी को सुख पहुंचाने के लिये मुझे प्रेम जाल बिछाकर उसे फंसाना पड़ा । अब तुम सब्बी बात जान गये । मेरे स्वामी मिल से लौटते ही होंगे । उनके आने का समय हो गया है । अगर तुम्हें मेरे यहां चाय पीने में कोई आपत्ति न हो तो घड़ी भर ठहरो । यहीं चाय पीकर और उनसे मिल कर मुम लौट जाना ।

मैंने उसका निर्मन्त्रण सहर्ष स्वीकार कर लिया ।

एक चरित्र

तरुणावस्था में प्रेम का उन्माद-रोग तो सभी नवयुवकों को हो जाता है, पर सभी के जीवन में प्रेम की विलक्षण घटनायें नहीं होतीं। अधिकांश की प्रेम-भावना उनके गृह-जीवन में ही समाप्त हो जाती है। अपने नगर में विशुद्ध प्रेम या ममता के यथार्थ रूप को मैंने एक व्यक्ति में पाया। वह पहलवान था। प्रतापगढ़ से आया था। सबसे पहले मैंने उसको रामबख्श भक्त के विश्राम-गृह में देखा। उसके शरीर की सुदृढ़ गठन देखकर सभी हठात् उसकी ओर आकृष्ट हो जाते थे। उसमें जहाँ तेज था वहाँ सरलता भी थी, उसमें जैसी शक्ति थी, वैसी सहनशीलता भी थी। क्रोध तो उसमें था ही नहीं। चिन्ता को वह जानता ही न था। ऐसा जान पड़ता था कि वह बिल्कुल निर्द्वन्द्व, निर्विकार था।

वह चुपचाप चाय पी रहा था। उसी समय एक दुबले पतले युवक ने आकर उसे खूब मिड़क कर कहा—‘वाह, उस्ताद, तुम यहाँ बैठे चाय पी रहे हो। मैं तुम्हें कितनी देर से खोज रहा हूँ, बठो।’

उसने नम्रता पूर्वक कहा—‘चलता हूँ भैया, जरा आराम से चाय तो पी लूँ।’

वह युवक उसके इस उत्तर से और भी क्रुद्ध हो गया। दोनों

में विवाद सा होने लगा । बात ही बात में उस दुबले पतले युवक ने आवेश में आकर कहा—‘चलते हो या यों ही बातें बनाओगे, ऐसा खींचकर थप्पड़ दूंगा कि फिर तुम बातें करना भूल जाओगे ।’

उसकी यह अचिन्तनीय बात सुनकर मैं हँस पड़ा । उसकी वह उक्ति सचमुच उपहासास्पद थी । कहाँ वह मच्छड़ और कहाँ वह हाथी । परन्तु उस दुर्बल युवक ने अपनी दुर्बलता का जरा भी विचार नहीं किया । वह सचमुच क्रोध से उठ खड़ा हुआ, पर मुझको हँसते देखकर वह कुछ सहम सा गया और तब वह पहलवान भी हँसने लगा । फिर उसने कहा—‘चल भैया चल, तुझसे लड़कर सचमुच मैं जीत नहीं सकता ।’

इसके बाद रामबल्लभ की दूकान पर उस पहलवान से प्रायः प्रतिदिन ही भेंट हो जाती थी । मुझको यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता था कि वह मान-अपमान, प्रशंसा-निन्दा, किसी की भी परवाह नहीं करता था । वह सभी से हँसकर बातें करता था । सभी की बातें सुन लेता था और सभी के काम करने के लिए सदैव तत्पर रहता था । अपनी शक्ति के कारण वह निर्बलों के प्रति बड़ा सहिष्णु था । उनके अत्याचारों तक को वह चुपचाप सह लेता था । उसके मुख पर सदैव प्रसन्नता बनी रहती थी ।

एक बार बाहर से एक प्रसिद्ध पहलवान आया । उसके साथ उसकी कुश्ती हुई । उसने उस पहलवान को पछाड़ दिया । लोगों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की, परन्तु उसने उत्तर दिया—‘जो लड़ता है, वह कभी हारता है और कभी जीतता है । इसमें न कोई

प्रशंसा की बात है और न निन्दा की ही । अगर मैं हार गया होता तो जान पड़ता है कि जगह जगह तुम लोग मेरी निन्दा करते फिरते ।’

उसकी यह बात सुनकर उसके सभी प्रशंसा करने वाले चुप हो गये । कुछ को बुरा लगा, पर वह निश्चिन्त होकर चाय पीने लगा ।

एक दिन उसने आकर मुझ से कहा—‘मास्टर साहब, यह कागज तो देखिये । इसमें क्या लिखा है ?’ मैंने उस कागज को पढ़ा । पढ़ने पर मालूम हुआ कि कप्तान साहब उस पर बहुत अप्रसन्न हो गये हैं । ऐसा जान पड़ता था कि वह नौकरी से हटा दिया जायगा । सारी बातें जान लेने के बाद उस कागज को फाड़ दिया और कहने लगा—‘जितना काम मुझसे हो सकता है, उतना मैं करता ही हूँ । अगर मेरे अफसर संतुष्ट न हों तो मैं कर ही क्या सकता हूँ ?’ यह कह कर उसने रामबख्श से कहा—‘रामबख्श चाय दो और वह प्रसन्न चित्त होकर चाय पीने लगा ।’

दो-चार दिनों के बाद फिर पहलवान ने मुझ को एक कार्ड दिखलाया । वह कार्ड उसके भाई ने देश से लिखवा कर भेजा था । उससे पता चला कि घर की स्थिति खराब हो गई है । उसके भाई को बड़ी चिन्ता है, वह कष्ट में है । वह चाहता है कि उसका भाई कुछ दिनों के लिये घर आ जाय और वहाँ आकर कुछ प्रबन्ध कर दे । पहलवान ने सब बातें सुन, मुझ को इसका उत्तर लिख देने को कहा । उसने जो उत्तर लिखाया उसका मर्म यह था कि संसार में सभी जगह सुख और दुःख है । हमें सुख भी

होते हैं और दुःख भी । इतने दिनों तक हम सुख में थे, अब यदि कुछ समय के लिए दुःख भी भोगना पड़े तो इसमें कौन सी अचरज की बात है । यह चिन्ता की बात नहीं ! जैसी स्थिति है तुम्हें वैसा ही काम करना चाहिये । यह उत्तर लिखा कर उसने बड़ी निश्चिन्तता से रामबख्श को चाय लाने के लिए कहा । फिर वह चाय पीने लगा ।

कुछ दिन और व्यतीत हो गये । इसके बाद भेंट होने पर उसने मुझेसे कहा—‘मास्टर साहब, आपको फिर एक खत लिखना पड़ेगा । फिर एक नयी विपत्ति आ गई है ।’

मैंने सहानुभूति के स्वर में पूछा—‘कैसी विपत्ति है ?’

उसने हंसकर कहा—‘मेरी माँ मृत्यु-शय्या पर है, कौन जाने इस पत्र का उत्तर पहुँचने तक वह जीवित रहेगी कि नहीं ।’

मैंने कहा—‘सचमुच यह बड़ी विपत्ति की बात है । आप छुट्टी ले घर चले जाइये और कम से कम माँ के अन्तिम दर्शन तो कर लीजिये ।’

उसने कहा—‘यदि माँ का दर्शन ही मेरे भाग्य में रहता, तो गांव छोड़कर इतनी दूर अपने जीवन-निर्वाह के लिये आना ही क्यों पड़ता ? क्या किया जाय ? मेरे भाई वहीं हैं, वही मेरी माँ की सेवा करते होंगे । किसकी माँ, कब तक, किसका साथ देगी । उसने मेरा पालन-पोषण कर इतना बड़ा बना दिया । अब मैं भटक रहा हूँ तो अपने भाग्य से । आप मेरे लिए एक काँट लिख दीजिये ।’

मैंने उसके कहने से जो कुछ लिखा, उसका सार यह था — संसार में किसी के माता-पिता सदैव जीवित नहीं रहते, इसीलिए उसे यह सुनकर दुःख नहीं हुआ कि अब उसकी माता का अन्तिम काल उपस्थित हो गया है। माँ का अन्तिम-दर्शन करना मेरे भाग्य में नहीं था ।’

इसी प्रकार सभी प्रकार की आपत्तियों को वह हँसते हँसते ढाल देता था। उसके लिए अर्थ-कष्ट तुच्छ था। मृत्यु एक स्वाभाविक घटना थी, जीवन एक खेल था। मृत्यु को यही प्रतीत होता था कि काल के सभी आघात उस पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सकते। उसने मानो दुःख के विरुद्ध एक अभेद्य कवच पहन लिया था। सभी संकट उसके लिए नगण्य थे, सभी कष्ट उसके लिए उपेक्षणीय थे और सभी अवस्थायें उसके लिए अच्छी थीं। वह एक काम से हट कर दूसरे काम में लगा, पर न उसे हर्ष हुआ और न विषाद। वह हेड कानिस्टबिल बन गया, पर उसने अपनी दिनचर्या नहीं बदली। वह जैसा पहले रहता था, वैसे अब भी रहने लगा। अफसरों की कृपा या अकृपा उसे विचलित नहीं करती थी। किसी प्रकार की बाधा या विघ्न उसके जीवन में क्षोभ ला ही नहीं सकते थे।

परन्तु एक दिन जब मैं प्रातःकाल रामबक्श की दूकान में गया, तब मैंने उसको अत्यन्त विषण्ण देखा। वह बिलकुल चुप बैठा था। किसी की ओर उसकी दृष्टि नहीं थी। उसके चेहरे पर किसी गंभीर वेदना का भाव झलक रहा था। ऐसा जान पड़ता

था मानो वह अपना सर्वस्व खो बैठा है, मानो अब उसमें कोई उमंग, कोई लालसा, उत्साह या तेज ही नहीं है।

मैंने कुछ घबड़ाहट के साथ पूछा—‘पहलवान जी, आप कुशल पूर्वक तो हैं न ?’

उसने नैराश्य पूर्ण स्वर में कहा—‘जी हाँ, मैं अच्छी तरह हूँ।’

मैंने फिर पूछा—‘घर में सब अच्छी तरह से तो हैं ? कोई बुरी खबर तो नहीं आयी है ?’

उसने उत्तर दिया—सब अच्छी तरह हैं। क्या कोई बुरी खबर आयेगी ?

मैंने कहा—पर आज आप बहुत उदास हैं ? क्या बात हुई ? कोई झंझट बखेड़ा तो नहीं हुआ ?

उसने कहा—कोई बात नहीं हुई है।

मैंने कहा—तब आप इस तरह उदास क्यों बैठे हैं ?

उसने एक दीर्घ निश्वास लेकर कहा—‘क्या कहूँ, मैं तो आज अपना सर्वस्व खो बैठा हूँ।’

मैंने विस्मित होकर पूछा—‘क्या बात हुई है ?’

वह कहने लगा—‘मेरा तीतर न जाने कहाँ चला गया है। न जाने कौन जानवर उसे उठा कर ले गया, कुछ पता नहीं चलता। उसका पिंजड़ा खाली है। सभी जगह दूँद डाला। कितने ही वर्षों से वही एक मेरा साथी है। भगवान जाने वह कहाँ है ? मैं इसी चिन्ता में व्याकुल हूँ।’

मैंने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—‘मिल जायगा, इधर-उधर कहीं होगा, आप घबड़ाइये मत ।’

मैंने फिर रामबख्श को चाय लाने के लिए कहा ; परन्तु उसने कहा—‘मास्टर साहब, मैं चाय नहीं पी सकता । मैं आज काम पर भी नहीं गया हूँ । मेरा मन बड़ा अधीर हो रहा है ।’

यह कह कर वह उठ कर चला गया । मैं भी चाय पीकर घर चला गया । फिर खा-पीकर मैं स्कूल चला गया । अपने ही कार्य में व्यग्र रहने के कारण मुझे उस पहलवान के दुःख की बात याद ही नहीं रही । एक बजे जब छुट्टी हुई तब दौड़ता हुआ वह पहलवान स्कूल आया । ज्यों ही उसने मुझको देखा ; त्यों ही वह चिह्ना उठा—‘मास्टर साहब मिल गया । मेरा तीतर मिल गया, मैं आपको खबर देने आया हूँ ।’

मैंने देखा—उसके चेहरे पर आनन्द की अपूर्व ज्योति थी । उसने अपनी अमूल्य-निधि पा ली थी । उसे अपना खोया धन मिल गया था । तब उसे क्यों न आनन्द होगा ? संसार की सभी स्पृहणीय वस्तुओं को उसने उपेक्षणीय समझ लिया था । उसकी सारी कामनायें एक तीतर में बद्ध थीं ।

दोष किसका ?

लार्ड बायरन के विषय में यह कहा जाता है कि एक रात जब वह सोकर उठा, तब उसे मालुम हुआ कि उसकी कीर्ति सारे यूरोप में फैल गई है और वह विश्व-विश्रुत कवि हो गया है। ठीक उसी तरह एक रात सोकर जब बलभद्र पंडित उठे तब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि सारे नगर में उनकी दुष्कीर्ति फैल गई है और उन्हें अपना मुंह लोगों को दिखलाना कठिन हो गया है। पर बात इतनी साधारण थी, इतनी तुच्छ थी कि कोई स्वप्न में भी यह नहीं समझ सकता था कि उसपर किसी की कीर्ति या दुष्कीर्ति आश्रित हो सकती है।

सभी नगरों में सड़कें होती हैं और गलियां भी। इसीलिये यदि खैरागढ़ में सड़कें या गलियां हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पर यह कोई नियम नहीं है कि बड़े लोग उनमें आते जाते ही न हों। इसीलिये यदि बलभद्र मिश्र भी नन्हें की तंग गली से निकल पड़े तो यह कोई विलक्षण घटना नहीं है। और यह भी कोई विलक्षण बात नहीं है कि उसी गली में उसी समय दूसरी ओर से देवकी भी आ जाय। यह बात सच है कि देवकी की गणना खैरागढ़ की असूर्यम्पश्या ललना में नहीं, वह अपनी चंचल प्रकृति के कारण छोटे-बड़े सभी प्रकार के लोगों से

मिलती है और विशेष लावण्य न रख कर भी अपनी प्रगल्भता से प्रतिदिन नये-नये प्रेमी खोज लेती है। यह सच है कि नगर में सबसे अधिक लोगों के प्रेम का पात्र बन कर भी वह अपयश का पात्र बनी हुई है। तो भी किसी भी गली में जाने का उसे पूर्ण अधिकार है और यदि वह नन्हें की गली से निकली तो यह कोई असाधारण बात नहीं है। मिश्र जी देवकी की ओर देखे और बाईं ओर हट कर उसे रास्ता देने लगे। यह उनकी सज्जनता ही थी। उनके शत्रु भी उनकी इस बात को स्वीकार करेंगे। देवकी ने भी मिश्र जी को देखा और उसने भी अपने मन में आदर देने के लिये बाईं ओर हट जाना ठीक समझा। यह भी उसके लिये सर्वथा उचित था। पर परिणाम यह हुआ कि दोनों एक दूसरे से टकरा ही गये। पर यह बिल्कुल अस्वाभाविक बात नहीं थी। मिश्र जी सहसा रुक गये। देवकी भी एकदम रुक गयी। दोनों के मुख पर मुस्कराहट आ गई। मिश्रजी अपने स्वाभाविक शील के कारण कुछ कह तो नहीं सके, पर प्रगल्भा देवकी से न रहा गया। उसने कहा—‘महाराज, जरा संभल कर चला कीजिये।’ ठीक इसी समय नन्हें भी अपने घर से निकला। उसने मिश्रजी को देख कर पूछा—अरे कौन है ? मिश्र जी महाराज। फिर उसकी दृष्टि देवकी पर पड़ी। तब उसने कहा—‘अच्छा, तुम हो देवकी रानी।’ यह कह कर वह चला गया। देवकी भी चली गई। पर मिश्रजी दो पग चल कर रुक गये। उन्होंने सोचा नन्हें ने

उन्हें ऐसा कहा क्यों ? यह तो कोई बड़ी बात नहीं थी कि वह उनकी गली से निकले । संयोगवश यदि देवकी से उसकी भेंट हो जाय तो इसमें उनका क्या दोष है ? तब नन्हें ने कुछ ताने के साथ उनको मिश्रजी महाराज क्यों कहा ? और फिर देवकी को देवकी रानी कह कर क्यों पुकारा ? नन्हें की प्रकृति से मिश्रजी अच्छी तरह परिचित थे । वे जानते थे कि नन्हें तिल का ताड़ बना देता है । इसीलिए उन्होंने सोचा कि कहीं नन्हें ऐसी बात को लेकर उनके सम्बन्ध में कुछ उट-पटांग बातें न कह डाले, इसीलिए वे तुरन्त ही लौटे । गली से बाहर निकलते ही उन्होंने देखा कि नन्हें लालाजी से कुछ हंस हंसकर बातें कर रहा है और लालाजी के मुख पर भी कुछ मुस्कराहट का भाव है । मिश्रजी को देखते ही नन्हें लालाजी को छोड़ कर तुरन्त चला गया । यह देख कर मिश्रजी को पूरा विश्वास हो गया कि उसने लालाजी से अवश्य उनके सम्बन्ध में झूठी बातें कही हैं । वे तुरन्त लालाजी के पास पहुँचे और बोले—‘देखो लालाजी, यह दुनिया कैसी है ? लोग दूसरों के सम्बन्ध में झूठी बात कहने के लिए जरा भी नहीं हिचकते । न कुछ समझना, न कुछ बूझना और किसी भी भले आदमी के सम्बन्ध में कुछ उट-पटांग धारणा बना लेना, यही नहीं, उस पर ताने देना । लालाजी कुछ नहीं समझ सके । उन्होंने कुछ चकित होकर पूछा—‘मिश्रजी आखिर बात क्या है ?’ मिश्रजी ने उत्तेजित होकर कहा—‘यह नन्हें बड़ा पाजी है ।’ अब तो लालाजी को कुछ कौतूहल हुआ । उन्होंने

कुछ व्यग्रता से मिश्रजी से पूछा—‘मिश्रजी नन्हें ने किया क्या है ?’

मिश्रजी ने कहा—‘क्या कहूँ, मुझे तो नन्हें पर बड़ा क्रोध आ रहा है ।’

लालाजी ने उत्सुकता से पूछा—‘आखिर बात क्या है, कुछ कहिये भी तो ।’

मिश्रजी कहने लगे—बात कुछ नहीं है । मैं नन्हें की गली से निकल रहा था । उधर से देवकी आ रही थी । मैं उसको रास्ता देने के लिये बाँई ओर हटा और वह भी बाँई ओर हट गई । मुझे रुक जाना पड़ा । इतने में नन्हें वहाँ पहुँचा और मुझे देख कर कहने लगा, “वाह मिश्रजी आप हैं ? वाह देवकी रानी तुम हो ? इस तरह ताने देकर वह चला गया । किसी भले आदमी को इस तरह ताने देना और फिर उसके सम्बन्ध में लोगों से कहते फिरना, यह कोई अच्छी बात है ?”

लालाजी ने कहा—‘सचमुच नन्हें को ऐसा नहीं करना चाहिये ।’ मिश्रजी संतुष्ट होकर वहाँ से चले गये । उन्होंने समझा कि नन्हें के वाक्-अस्त्र को उन्होंने अपने ब्रह्मास्त्र से विफल कर दिया । अब उसके कथन का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता, पर ठीक उसी समय पोतदार भी लालाजी के पास आ गये । इन्होंने मिश्रजी को लालाजी से कुछ उत्तेजित बातें करते सुन लिया था इसीलिये उन्होंने कौतूहल वश लालाजी से पूछा—‘मिश्रजी अभी क्या जोर जोर से कह रहे थे ?’

लालाजी ने कहा—कुछ नहीं, मिश्रजी का स्वभाव आप भी तो जानते हैं। गलियों में घूमते फिरते हैं, कहीं किसी ने कुछ देख लिया तो उसी पर नाराज हो जाते हैं।

पोतदार जी का कौतूहल बढ़ गया, उन्होंने पूछा—‘आखिर बात क्या है ?’

लालाजी ने कहा—बात कुछ नहीं है। नन्हें के घर के सामने मिश्रजी देवकी से खड़े कुछ बातें कर रहे थे। नन्हें ने देखा। उसे कुछ बुरा लगा होगा। उसने कुछ कहा भी होगा। इसी पर मिश्रजी नाराज हो गये और मुझसे उसकी शिकायत करने आये थे। मैं क्या करूँ, मैंने कह दिया।’

पोतदार जी अपनी कौतूहल की निवृत्ति कर बाजार की ओर चले गये। वहाँ उन्होंने देखा कि मिश्रजी एक तंबोली की दूकान पर खड़े हुए कुछ बातें कर रहे हैं। उन्हें देख कर पोतदार जी की कौतूहल भावना फिर जागृत हो उठी। उन्होंने मिश्रजी के पास जाकर फिर पूछा—‘कहिए मिश्रजी यह नन्हें क्या बातें कर रहा है ?’ आपसे और उनसे कुछ बात हुई है क्या ?

मिश्रजी ने कहा—‘आपने कुछ सुना है क्या ?’

पोतदार जी ने कहा—‘तभी तो आपसे पूछ रहा हूँ। मुझे तो सुन कर बड़ा अचरज हुआ।’

मिश्रजी कहने लगे—मैं आपको क्या बताऊँ। नन्हें बड़ा पाजी है। मैं उसके घर के पास की गली से निकल रहा था। उधर से देवकी निकल पड़ी। मैं उसे रास्ता देने के लिये बाईं ओर

हट गया पर वह भी उसी समय बाईं ओर हट गई । इसीसे झग
भर मुझ को रुकना पड़ा । इसी पर नन्हें ने मुझे ताना दिया ।'

पोतदार जी ने कहा—'सचमुच नन्हें बड़ा पाजी है ।'

मिश्रजी चले गये । उनके चले जाने के बाद तंबोली ने
पोतदार जी से पूछा—'बात क्या थी ?'

पोतदारजी ने कहा—'बात कुछ नहीं थी । मिश्रजी के
स्वभाव को तुम जानते ही हो । गली गली घूमते फिरते हैं ।
आज नन्हें की गली में वे देवकी से कुछ बातें कर रहे थे । कुछ
प्रेमालाप कर रहे होंगे । नन्हें ने देख लिया । उन्हें कुछ बुरा
मालूम हुआ होगा । उसने मिश्रजी को ऊँचा नीचा कह दिया ।
अब मिश्रजी जगह-जगह उसकी शिकायत करते फिरते हैं । अपनी
ओर तो देखते नहीं । गली में खड़े होकर वे किसी बदजात
औरत से बातें करें ही क्यों ?'

इतना कह कर पोतदार जी चले गये । तंबोली अपने काम में
लगा ही रहा । इतने में ठाकुर साहब पान खाने के लिये
आये । तंबोली ने पान लगाते लगाते ठाकुर साहब से पूछा—
'ठाकुर साहब, आपने मिश्रजी की कोई बात सुनी है ?'

ठाकुर साहब ने कुछ कौतूहल के भाव से पूछा—'क्या बात,
मैंने तो कुछ नहीं सुनी है ।'

तंबोली ने कहा—'वाह, इतनी बड़ी बात हो गई और आपने
सुनी भी नहीं !'

ठाकुर साहब ने उत्सुकता से पूछा—‘क्या बात है, सचमुच मैंने तो कुछ भी नहीं सुना है ?’

तंबोली ने कहा—‘नन्हें से मिश्रजी का बड़ा झगड़ा हो गया। अभी मिश्रजी आये थे खुद बतला रहे थे।’

ठाकुर साहब ने पूछा—झगड़ा हुआ क्यों, ऐसी कौन सी बात थी ?’

तंबोली ने कहा—‘बात कुछ नहीं थी। आप मिश्रजी को तो जानते ही हैं। गली गली घूमते हैं और गली गली औरतों से मजाक करते फिरते हैं और गली गली वे मार खाते रहते हैं।’

ठाकुर साहब ने अब तो बड़ी व्यग्रता से पूछा—क्या बात हुई ?’

तंबोली ने कहा—बात यह हुई कि नन्हें के घर के सामने गली में मिश्रजी देवकी से कुछ प्रेमालाप कर रहे थे। नन्हें ने देख लिया और कुछ कहा। इसी बात पर दोनों में झगड़ा हो गया, मारपीट हो गई। अब मिश्रजी जगह जगह नन्हें की शिकायत करते फिरते हैं।

ठाकुर साहब तंबोली की बातों को सुन कर कुछ आगे बढ़े। उन्होंने देखा कि मिश्रजी एक सेठ की दूकान पर बैठे कुछ बातें कर रहे हैं। ठाकुर साहब भी वहाँ चले गये। उन्होंने मिश्रजी से पूछा—‘नन्हें से यह आप का क्या झगड़ा हो गया।’

मिश्रजी ने उत्तेजित होकर और सेठजी की ओर मुड़ कर कहा—‘देखिये, अभी मैंने आपसे जो कहा वही बात हुई न।’

फिर उन्होंने ठाकुर साहब की ओर देख कर कहा—‘आपने जरूर कुछ बात सुनी हैं बतलाइये ।’

ठाकुर साहब ने कहा—‘मैंने जो बातें सुनी है उन पर मुझे तो विश्वास नहीं होता। तभी तो आपसे पूछने आया हूँ। बात क्या है?’

मिश्रजी ने कहा—‘बात कुछ नहीं है। मैं आज नन्हें की गली से निकल रहा था। उधर से देवकी भी निकल पड़ी। उसे राह देने के लिये मैं बाईं ओर हटा, वह भी बाईं ओर हट गई। मुझे एक क्षण रुकना पड़ा। इसी पर नन्हें ने मुझे ताना दिया।’

ठाकुर साहब ने कहा—‘सचमुच यह बुरी बात है।’

मिश्रजी चले गये। सेठजी ने ठाकुर साहब से पूछा—‘क्या बात हुई थी? मिश्रजी मुझसे भी नन्हें की शिकायत कर रहे थे।’

ठाकुर साहब ने कहा—‘बात क्या होगी। मिश्रजी का तो यह काम ही है। गली-गली में वे घूमते फिरते हैं और मार खाते रहते हैं। नन्हें की गली में वे देवकी से प्रेमालाप कर रहे थे। नन्हें ने उन्हें देख लिया। देवकी का एक प्रेमी नन्हें भी तो है। उससे न रहा गया। उसने इनको कुछ कहा। बात ही बात में झगड़ा हो गया। मारपीट की नौबत आयी। बुरी तरह पिट कर अब मिश्रजी जगह जगह नन्हें जी की शिकायत कर रहे हैं।’

यह कह कर ठाकुर साहब चले गये। रात हो गयी। तब तिवारीजी सेठ जी के यहाँ पहुँचे। सेठजी ने उन्हें मिश्रजी की सारी कथा सुनाई। तिवारीजी सुनकर विस्मित हो गये। तिवारीजी मिश्रजी के इष्ट मित्र थे। रात अधिक हो गई थी इसीलिए

वे अपने घर चले आये । दूसरे दिन प्रातःकाल वे मिश्रजी के घर पहुँचे । वहाँ उन्होंने मिश्रजी को तुरन्त डाँट कर पूछा—मिश्रजी यह आप क्या कर रहे हैं ? सारे नगर में आपकी चर्चा हो रही है । सब आपको थू थू कर रहे हैं । गली गली मार खाते फिरना, यही क्या आप को शोभा देता है ?

मिश्रजी तिवारीजी की ये बातें सुनकर क्षण भर स्तब्ध रह गये । फिर उन्होंने पूछा—यह आप क्या कह रहे हैं ?

तिवारी जीने क्रुद्ध होकर कहा—‘मैं कह रहा हूँ । सारा नगर कह रहा है कि आप देवकी से कुछ प्रेम की बातें कर रहे थे । तब नन्हें ने आपको देखा और डाँटा फटकारा । फिर मारपीट भी हुई ।’

मिश्रजी ने चिल्लाकर कहा—‘बिल्कुल मूठी बात है । वह नन्हें बड़ा पाजी है । मैं उसको जरूर दुरुस्त कर दूंगा ।’

तिवारीजी ने कहा—पहले आप अपने को दुरुस्त कीजिये । बिल्कुल मूठी बात कह देने से कोई बात मूठी नहीं हो जाती । बिना हवा पत्ता नहीं डोलता । क्या आप नन्हें की गली से नहीं निकले थे ? क्या वहाँ देवकी से आपकी भेंट नहीं हुई थी ? क्या देवकी से वहाँ आपकी कुछ भी बात नहीं हुई थी ? क्या नन्हें ने यह सब नहीं देखा ? क्या ये सब बातें मूठी हैं ?’

मिश्रजी ने कहा—ये सब बातें सच हैं पर मेरी भी तो सुन लीजिये ।’

तिवारीजी ने कहा—‘तुम्हारी बातें क्या सुनूँ । तुम जगह जगह अपनी सफाई देते फिरोगे तो इसे मानेगा कौन ? तुमको समझाते समझाते थक गया, पर तुमने कभी भी मेरी एक भी बात नहीं सुनी ।’

तिवारी जी यह कह कर क्रोध से चले गये । मिश्रजी भी क्रोधमें आ उन्हीं के घर की ओर रवाना हुए । रास्ते में मोटर-स्टैंड पर उन्होंने नन्हें को देखा । उन्होंने लपक कर नन्हें का हाथ पकड़ लिया और उत्तेजित हो कर कहा—बदमाश, पाजी, तू मेरे सम्बन्ध में लोगों से कहता फिरता है ?’

नन्हें विस्मृत होकर कहने लगा—‘महाराज, आप यह कह क्या रहे हैं ? मैं तो कल डोंगरगढ़ गया था । अभी आ रहा हूँ । आपको जब से देखा तब से मैं खैरागढ़ के एक आदमी से भी नहीं मिला हूँ ।’

मिश्रजी ने कहा—‘क्या तुमने कल लालाजी से मेरे सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा ?’

नन्हें ने कहा—जब मैं डोंगरगढ़ जाने के लिये घर से निकला तब पहले आपसे भेंट हुई । उसके बाद लालाजी से भेंट अवश्य हुई । उन्होंने मुझको डोंगरगढ़ से कुछ चीजें लाने को अवश्य कहा । मैं सीधा मोटर-स्टैंड आया और डोंगरगढ़ चला गया । डोंगरगढ़ से अभी लौट रहा हूँ । मैं तो कुछ जानता ही नहीं कि आपके सम्बन्ध में यहाँ क्या बातें हुई हैं ?’

तब मिश्रजी ने चिल्लाकर कहा—‘तब किस पाजी ने मेरे सम्बन्ध में ये बुरी बातें फैला रखी हैं ?’

मिश्रजी अभी तक उस शत्रु का पता लगा रहे हैं जिसके कारण वे नगर में अपयश के पात्र बन गये ।

गोवर्द्धन मिश्र

मेरे नगर के दर्शनीय पुरुषों में गोवर्द्धन मिश्रजी भी एक थे। जैसा उनका नाम था वैसा ही उनका रूप था। उनका रंग कुछ काला था, बाल कुछ रूखे और कड़े थे, शरीर कुछ स्थूल था, दांत बिलकुल मोती के समान छोटे और चमकदार नहीं थे। कद भी कुछ अधिक नहीं था; तो भी उनमें कुछ ऐसी विलक्षणता थी कि वे सभी को किसी न किसी प्रकार आकृष्ट कर लेते थे। वे चलते थे तो आधी सड़क गोक लेते थे और बातचीत करते तो दूसरों को कुछ कहने का अवसर ही नहीं देते थे। इसमें सन्देह नहीं कि नगर के छोटे-बड़े सभी लोगों से वे ऐसे मिल गये थे कि मानों वे सभी के चिरपरिचित मित्र हों।

कब, कौन उनका शत्रु है और कब, कौन उनका मित्र है यह जानना कोई साधारण बात नहीं थी। कुछ दिन पहिले दो ठाकुरों से उनकी ऐसी घनिष्ठता थी कि ऐसा जान पड़ता था कि उनमें दृढ़ सौहार्द है। पर एक दिन घर घर जाकर उन्हीं ठाकुरों की इतनी निन्दा करते फिरे कि सभी लोगों को यह मालूम हुआ कि वे दोनों ठाकुर निरे ठग हैं। इसके थोड़े ही दिनों बाद उन्होंने फिर उन्हीं ठाकुरों से ऐसी मैत्री स्थापित कर ली और उनको ऐसा प्रसन्न कर लिया कि उन्होंने उन्हें रुपयों की मदद दी। एक बार नन्दन

पोत्तदार नामक एक नवयुवक से उनका ऐसा झगड़ा हो गया कि लोगों को ऐसा प्रतीत हुआ कि या तो नन्दन ही उन्हें पीट डालेगा या वही उसे अपने ब्रह्मतेज से भस्म कर डालेंगे। परन्तु एक मिठाई वाले की दूकान में उनमें मैत्री हो गई। एक दिन उसी दूकान के मालिक के लड़के से भिड़ गये। लोगों ने उन्हें समझाया कि वह लड़का जरा उदण्ड है, उससे झगड़ना ठीक नहीं, पर उन्होंने गला फाड़ फाड़ कर यह कहा कि वे ऐसों से नहीं डरते। वे उसकी चटनी बना देंगे।

एक दिन उस लड़के ने उन्हें बुरी तरह पीट दिया। तब उन्होंने ब्राह्मणत्व की दुहाई देकर उसे क्षमा प्रदान कर दिया। अपनी इसी सहनशीलता के कारण वे सब लोगों की सहानुभूति के पात्र बन जाते थे। उनमें और भी गुण थे। वे नगर भरके संवाद दाता थे। किस मुद्दले में कहां लड़ाई हुई, किसने कब क्या किया, सब बातें उन्हें मालूम रहती थीं। रात को दो बजे भी यदि कहीं कोई घटना होती तो वे छः बजे के पहिले ही नगर के घर घर से वे उसका विवरण सुना जाते थे। खुद उन्हीं पर कोई बारदात गुजरती तो उसी को घर घर सुनाते फिरते एक बार रात में ठाकुर ने उन्हें किसी गली के किसी अंधेरे कोने में पीट दिया। किसी ने भी यह घटना नहीं देखी थी। पर पांच बजे ही वे घर घर जाकर लोगों को अपनी दुर्दशा का हाल सुना आये, और अपने शरीर पर के चोटों के दाग दिखला आये, इन्हीं सब गुणों के कारण वे नगर में सबसे अधिक लोकप्रिय व्यक्ति थे। वे सभी

जगह जाते थे और सभी लोग उनकी बातों को चाब से सुनते थे ।

गोवर्धन मिश्र में स्त्री जाति के प्रति बड़ी उदारता का भाव था । विधवाओं के प्रति उनकी बड़ी सहानुभूति थी । सधवाओं के प्रति भी वे बड़े उदार थे । कुमारियों की सेवा में वे सदैव तत्पर रहते थे । अपने इस गुण के कारण उन्हें एक बार जो कष्ट हुआ उसका हाल उन्होंने खुद सब लोगों से बतलाया यह हाल सच है या झूठ, कल्पना है या कथा यह तो वे ही जाने पर इसके कारण उन्हें कुछ दिनों तक चिन्तित अवश्य रहना पड़ा था ।

वे गये थे कलकत्ता । पन्द्रह दिनों तक उन्हें कलकत्ते में रहना पड़ा । इसके बाद वे घर लौटे । उन्होंने कुछ कपड़े खरीदे । जब आने लगे तब कलकत्ते में ही उन्हींके एक परिचित आदमी मिल गये । उन्होंने खैरागढ़ के एक लाल साहब के लिये कुछ कीमती कपड़े और गहने दिये । सब को उन्होंने ट्रंक में रखा उसमें उनके कुछ रुपये भी थे । अच्छी तरह तैयार होकर वे स्टेशन आये । गाड़ी छूटने में काफी विलम्ब था इसलिये वे आराम से इधर उधर घूमने लगे । घूमते घूमते उनकी दृष्टि एक सोलह सत्रह वर्ष की लड़की पर पड़ी । वह एक कोने में अपने ट्रंक पर बैठी कुछ पढ़ रही थी । उसके पास और कोई दूसरा व्यक्ति नहीं बैठा था । दो तीन बार उसके आस पास घूम कर उन्होंने उस लकड़ी से पूछा — क्या आप किसी स्कूल में पढ़ती हैं ?

उसने सिर उठा कर इनकी तरह देखा और कहा—जी हाँ ।

उन्होंने तुरन्त अपना परिचय दिया—मैं एक मास्टर हूँ, एम०

ए० बी० टी० हूँ । १५०) रु० मासिक वेतन पर एक हाई स्कूल में काम कर रहा हूँ ।

उस लड़की ने उनका यह परिचय सुनकर कुछ चकित होकर कहा—ऐसा ।

गोवर्धन मिश्र जी कुछ और पूछने लगे—क्या आप अकेली जा रही हैं ?

उस लड़की ने संक्षेप में उत्तर दिया जी हाँ, गोवर्धन मिश्र ने पूछा—आप कहाँ तक जायँगी ?

उस लड़की ने कहा—विलासपुर तक जाऊँगी ।

गोवर्धन मिश्र ने यह सुनकर बड़े उत्साह से कहा—वाह, तब तो मैं आपको पूरा साथ दूँगा ।

लड़की ने कहा बड़ी अच्छी बात है ।

गोवर्धन मिश्र तुरन्त उठ कर अपना ट्रंक भी वहीं ले आये और रखकर कहने लगे—आप जरा इसे देखिये, मैं अभी लौट आता हूँ ।

लड़की चुप रही । गोवर्धन मिश्र स्टेशन की ओर चले । वहाँ से कुछ मिठाई और फल खरीद कर ले आये । कुछ उन्होंने अपने लिये रखा और बाकी उस लड़की को दिया । इसके बाद ट्रंक खोलकर उन्होंने कांच की दो गिलासों निकाली और उनमें पानी भर कर भी ले आये । उनके विशेष आग्रह से लड़की ने भी मिठाई खाई और पानी पिया । इसके बाद उन्होंने लड़की को अपना कुछ विशेष परिचय दिया । उन्होंने उसको वे कीमती

कपड़े और गहने भी दिखाये और उनकी कीमत के सम्बन्ध में सम्मति भी पूछी। इस प्रकार ऐसी घनिष्ठता करली थी कि यही जान पड़ता था कि वे ही उसके संरक्षक हैं।

गाड़ी तैयार होने पर उन्होंने अपने ट्रंक के साथ उस लड़की के ट्रंक को भी कुली से उठवाया। इसके बाद विस्तर आदि दूसरे सामान लेकर वे एक ही कमार्टमेंट में बैठे। उन्होंने विस्तर बिछा कर लड़की को एक बेंच पर बिठा दिया। दूसरी बेंच पर उन्होंने अपना विस्तर लगा लिया। दोनों में अब बातें होने लगीं। लड़की ने बतलाया कि वह विलासपुर के मनमोहन प्रसाद वकील की लड़की है।

गाड़ी रवाना हुई। एक के बाद एक स्टेशन आने लगे, और छूटने लगे। उस कमरे में भी भीड़ होने लगी। पर स्वयं कष्ट सहकर भी मिश्रजी ने उस लड़की को कष्ट नहीं होने दिया। शाम होने पर उस लड़की के जलपान के लिये उन्होंने फिर व्यवस्था की। रात होने पर उन्होंने उसको भोजन कराया। इसके बाद सोने लगी और वे जाकर उसकी रक्षा करने लगे। दो बजे गाड़ी विलासपुर पहुँचती थी। उसके दो तीन स्टेशन आगे लड़की उठ बैठी। उसने कुछ मुस्करा कर गोवर्धन मिश्रजी को धन्यवाद दिया। गोवर्धन जी कृतकृत्य हो गये। गाड़ी पर कितने ही लोग ऊँच रहे थे। उस लड़की ने उनका हाथ पकड़ कर कहा 'मास्टर साहब अब आप सोइये, आपका स्टेशन तो बड़ी देर में आयगा। अब मैं आप की सेवा करूँगी।' उस लड़की के सुकोमल हाथों

के स्पर्श से मास्टर साहब गद्गद् हो गये वे सोना नहीं चाहते थे पर लड़की ने अपना विस्तर हटा कर उनका विस्तर लगा दिया और फिर अपने हाथों से जबरदस्ती लेटाकर उनपर चादर ढांक दी। मास्टर साहब थके तो थे ही, कुछ समय तक नींद न आई पर इसके बाद वे सो गये। कब विलासपुर का स्टेशन आया इसका उन्हें स्मरण नहीं है, इतना उन्हें अवश्य याद है कि लड़की ने उन्हें जगा कर नमस्कार किया और कहा—‘मैं अब जाती हूँ।’ पर निद्रा ने उन्हें विवश कर दिया था। जब उनकी नींद खुली तब गाड़ी डोगरगढ़ स्टेशन में प्रवृष्ट हो रही थी उन्होंने अपना विस्तर ठीक किया। और बेंच के नीचे से अपना ट्रंक खींचा। तब उन्होंने देखा कि वह उनका ट्रंक नहीं है। वह तो उस लड़की का ट्रंक है। वे समझ गये कि रात में धोखे से अपना ट्रंक भूलकर कर वह उनका ट्रंक ले गई। यह कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं थी। वे लड़की के पिता का नाम जानते थे। पत्र लिखने पर सब कुछ ठीक हो जायगा। वे निश्चिन्त होकर डोगरगढ़ में उतरे और निश्चिन्त होकर अपने विलासपुर निवासी साले को पत्र लिखा—मनमोहन वकील की लड़की नलिनी जो कलकत्ते में पढ़ती है धोखे से अपना ट्रंक मेरे पास भूल गई है और मेरा ट्रंक ले गई है। मैं उनका ट्रंक लेकर आऊंगा आप उन्हें सूचित कर देंगे। उन्होंने इसके बाद मन ही मन में नलिनी से भेंट करने और उससे बातचीत करने की सुखद कल्पना की। इस कल्पना में चार दिन व्यतीत हो गये। पाँचवें दिन विलास-

पुर से पत्र आया कि न वहां कोई मनमोहन प्रसाद वकील हैं और न नलिनी नाम की कोई लड़की ही हैं।

ट्रंक खोलने पर उसमें सिर्फ फटे पुराने कपड़े निकले। कोई भी ऐसी चीज हाथ नहीं आई जिससे उस लड़की का पता चल सके। पर गोवर्धन मिश्रजी ने अभी तक उन कपड़ों को बड़े यत्न से रख छोड़ा है। उन्हें आशा है कि नलिनी की कभी उनसे अवश्य भेंट होगी।

१२

गुड़िया

(१)

जीवन का मतलब समझना कठिन है। विधाता ने जगत् में अस्थिरता की सृष्टि क्यों की है? चञ्चला की चमक की तरह जीवन में क्षण भर ब्योति उदित होकर फिर क्यों लीन हो जाती है? मनुष्य संसार के अनन्त कार्यों में व्याप्त रह कर कभी कभी ऊपर की ओर दृष्टि डालता है। सुनील, प्रशान्त, अनन्त आकाश फैला हुआ है। नीचे शस्य श्यामला बसुन्धरा निश्चिन्त लेटी हुई है। दोनों स्थिर हैं, दोनों स्मरणातीत काल से निश्चल होकर ठहरे हुए हैं। पर इन दोनों के मध्यवर्ती मनुष्य के जीवन में अस्थिरता है, चंचलता है। न जाने कब से कालका यह अविराम श्रोत प्रवाहित हुआ है। थोड़ी भी शान्ति नहीं है। इसी जीवन प्रवाह में पड़ कर हम आगे ही बहते चले जाते हैं, न जाने कहाँ इसका अन्त होगा। संध्या का समय था। मैं अपने स्कूल की क्रीडा-भूमि पर अकेला बैठा हुआ था। सब लड़के चले गये थे। फूटबाल-माउन्ड अन्धकारमय हो रहा था। मैं उसी अन्धकार में बैठ कर अपने जीवन की अतीत बातें सोच रहा था। बाल्यकाल के दृश्य उदीयमान ताराओं की तरह मेरे हृदयाकाश में एक एक कर उदित होने लगे। सब तो वैसे ही थे। यही गांव है, यही

नदी है, और यही स्कूल है। सब कुछ जैसे पहले थे वैसे ही हैं। केवल मैं ही दूसरा हो गया हूँ। अब वे भाव नहीं, अब वे आशाएँ नहीं। एक बार मैंने जो अनुभव किया था वह अब स्वप्न के समान केवल स्मृति में रह गया है।

(२)

बाल्यकाल में मधुर स्वप्न की सी मोहावस्था रहती है। नव तारुण्य के अविर्भाव होते ही उसमें प्रभात श्री की सी मधुरता, रमणीयता, और स्वच्छन्दता आ जाती है। पर ज्यों ही हम विश्व के कर्म में प्रविष्ट होते हैं त्यों ही भव ताप की वृद्धि होने लगती है। तब हममें अधिक व्यग्रता हो जाती है। किसी भी एक विशेष परिस्थितियों में रहने पर हमें असंतोष होने लगता है। शक्ति की स्फूर्ति से एक क्षुद्र सीमा में बद्ध रहने से ऐसा जान पड़ता है कि हमारी शक्ति नष्ट हो रही है। जब तक तारुण्य का उन्माद बना रहता है तब तक हम लोग किसी प्रकार यह स्वीकार नहीं कर सकते कि जीवन की सफलता हम लोगों के लिये दुष्प्राप्य है। अपनी स्थिति से असंतोष होने पर हम लोगों में कार्य करने की स्फूर्ति आती है। असंतोष से ही हममें महत्वाकांक्षा उत्पन्न होती है और वही हमें उन्नति के पथ पर हमें खींच ले जाती है। हम बाधाओं और संकटों से उद्विग्न नहीं होते। संघर्ष से हमें उत्साह होता है। लालसा की अतृप्ति हमें सभी को स्वायत्त करने के लिये प्रेरित करती है। पर अपनी इच्छा के अनुसार सफलता प्राप्त करने में हमें अन्य लोगों के साथ जैसे

सहयोग करना पड़ता है वैसे ही विरोध भी करना पड़ता है । स्वार्थी की एकता सहयोग लाती है और स्वार्थी का संघर्ष विरोध उत्पन्न करता है । सभी तरह के क्षेत्रों में हम लोगों को कितनों से ही प्रतिद्वन्द्विता करनी पड़ती है । हम अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पराभूत करने के लिये सभी प्रकार के प्रयत्न करते हैं । ईर्ष्या और विद्वेष से प्रेरित होकर हम लोग कपट का भी जाल निर्मित करते हैं । हमको कभी कभी अपने कपट-जाल से आशातीत सफलता हो जाती है । तब हम अपने कपट व्यवहार में नीति की एक कुशलता देखते हैं, बुद्धि का एक उत्कर्ष समझते हैं और सफलता का उसे अव्यर्थ अन्न समझ कर उसके प्रयोग में और अधिक नैपुण्य प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं । संसार के जितने व्यवहार-कुशल लोग होते हैं वे लोग मन में कुछ और सोचते हैं, मुँह से कुछ और कहते हैं और कार्य कुछ और ही ढंग का करते हैं । उनकी यह नीतिमत्ता सफल होने पर सभी के हृदय में उनके प्रति एक गौरव का भाव ला देती है । जीवन शतरंज का एक खेल हो जाता है । तब नीति-कुशल व्यक्ति अपने कार्य में सिद्धि पाने के लिये लोगों को अपनी इच्छा के अनुसार संचालित करता रहता है । पर एक ऐसा भी समय आता है जब हम स्वयं अपने जाल में बद्ध हो जाते हैं । कितनों को पराभूत करने के बाद हम स्वयं किसी एक से ऐसा पराभव पाते हैं कि हमारी सारी क्षमता नष्ट हो जाती है । उत्थान की एक सीमा तक पहुँच कर हमारा ऐसा पतन हो जाता है कि हम फिर स्वयं अपनी

शक्ति से उठ नहीं सकते । अवस्था कुछ प्रौढ़ होते ही तारुण्य की स्फूर्ति क्षीण होने लगती है । तब अपनी शक्ति पर हमें उतना विश्वास नहीं रह जाता । विश्वास की जो दृढ़ता तारुण्य-काल में रहती है वह उस समय नहीं रह जाती । अपनी शक्ति की इयत्ता जान कर हम लोग अपने प्रयासों में एक विफलता का अनुभव करने लगते हैं और तब अपने अंतर्जीवन की ओर लक्ष्य करने से हमें अपना ही नहीं समग्र संसार का जीवन रहस्यमय प्रतीत होने लगता है । मुझे भी आजकल सब से अधिक रहस्यमय अपना यह लुप्त जीवन ही प्रतीत होता है । मैंने कैसे यह जन्म पाया, क्यों एक विशेष परिस्थिति में मेरा जन्म हुआ, अन्य लोगों की जीवन-गति से मेरी जीवन-गति क्यों विभिन्न रही, मानव जाति में समता और एकता होने पर भी हम लोगों के स्वभाव, और स्थिति में यह वैचित्र्य, यह विषमता, यह वैपरीत्य क्यों हुआ ? देश और काल का सभी पर एक सा प्रभाव पड़ने पर सभी लोगों की रुचि, धारणा, और मति में क्यों विभिन्नता आई आदि बातें ऐसी हैं जिनका उचित उत्तर पाने पर हम लोग उद्विग्न हो जाते हैं । आकाश में विद्युत की तरह क्या मैं भी प्रकृति की क्रीड़ा हूँ । अगुओं के अचानक संयोग और वियोग पर ही क्या मेरा उदय और अस्त निर्भर है ? क्या मेरा अपना कोई पृथक् अस्तित्व है ? उस अस्तित्व में क्या कोई स्थायित्व है ? हम क्यों किसी को सुनीति और दुर्नीति कहते हैं, क्यों किसी को न्याय और अन्याय समझते हैं ? यह तो सच है कि हम सभी अपने

व्यक्तिगत जीवन के विकास की कामना करते हैं; तब परोपकार, दया, सेवा, का भाव हममें कैसे आ जाता है ? क्या उसके मूल में केवल स्वार्थ भावना ही काम करती है ? क्या समाज और राष्ट्र की रचना में भी यही स्वार्थ भाव करता है कि हम सबको उसके द्वारा अपने ऐहिक व्यक्तिगत जीवन के विकास में पूर्ण साधन या अवसर मिले । हम अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये ही समाज अथवा राष्ट्र की रचना कर अधिक से अधिक क्षमता प्राप्त करते हैं । पर उस व्यक्तित्व का अन्त कहाँ है ? उसको उस क्षमता की सार्थकता कहाँ है ? जो समाज या राष्ट्र विशेष शक्ति या क्षमता पा लेता है, वह अन्य समाजों या राष्ट्रों को पराभूत कर उन्हीं के द्वारा अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये साधन प्राप्त करता है, पर ऐसे राष्ट्रों और समाजों का जैसा उत्थान होता है वैसा पतन भी । हम अपने व्यक्तिगत जीवन में यह भी अनुभव करते हैं कि एक सा अवसर पाने पर और एक सा अधिकार उपयोग करने पर भी हम एक सी क्षमता नहीं पा सकते । सभी लोग एक सी उन्नति नहीं कर सकते सभी में एकसी स्वाभाविक शक्ति नहीं रहती और शक्ति की इस विषमता से जीवन में सदैव विषमता बनी रहती है । जीवन संग्राम में कितने ही लोगों का प्रताप विफल हो जाता है, कितनों की दुर्दशा हो जाती है । ऐसे कुछ ही लोग होते हैं जो ऐहिक जीवन में भी सफलता प्राप्त कर पाते हैं । फिर उन्नति और अवनति के सम्बन्ध में भी हम सभी की एक सी धारणा नहीं रहती । कोई एक में गौरव देखता है तो कोई किसे दूसरे में

महिमा पाता है। जिसमें हम अपने जीवन की गरिमा देखते हैं, उसीकी प्राप्ति के लिये हम प्रयत्न करते हैं। कभी यदि हम अर्थ की सिद्धि में गरिमा देखते हैं तो कभी धर्म और ज्ञान में महिमा का अनुभव करते हैं। व्यक्ति की तरह समाज की भी कोई एक निश्चित धारणा नहीं होती। कर्म वह भी युग था जब लोग धर्म में ही जीवन की सच्ची गरिमा देखते थे। आज हम धर्म को एक मिथ्या उन्माद मान कर अर्थ में ही जीवन की यथार्थ गरिमा देखने लगे हैं।

(३)

सहसा मेरी मोह निद्रा भंग हो गई। मुझे ज्ञात हुआ कि वर्तमान में मेरी कुछ स्थिति है, क्योंकि उसी समय वीर सिंहने आकर कहा—मास्टर साहब, एक हाकी-स्टिक का पता नहीं है। मैं एक दोर्घ निश्वास लेकर उठा और विरसिंह के साथ जाकर सब सामान देखने लगा। सचमुच एक स्टिक नहीं थी। अब रात हो गई थी। उसका पता लगाना मुश्किल था। हसलिये वह काम दूसरे दिन के लिये छोड़ मैं घर लौटा। रास्ते, में पण्डित कृष्णराव का मकान मिलता था। जाते जाते एक बार मैंने उसके घरके भीतर दृष्टि डाली। देखा, पंडितजी कुछ लिखने में व्यग्र हैं। आगे बढ़ने पर देवेन्द्रबाबू के मकान से संगीत की मधुरध्वनि सुनाई पड़ी। मैं ठहर कर सुनने लगा। कोई गा रहा था 'कहूँ किससे मैं मनकी बात 'इसके बाद घर से किसी शिशुकी रोदन-ध्वनि के साथ किसी स्त्री के हंसने की आवाज आई। रोदन और

हास्यका संमिश्रण देखकर मैं अपने आप कहने लगा—‘यही तो संसार है, एक ओर हाहाकार और दूसरी ओर संयोग ।’

इसके बाद कुछ सोचने का अवसर नहीं मिला । मालती के एक ‘मास्टर’ शब्द से मेरी दार्शनिक भावना नष्ट हो गई । मैं उसे गोद में लेकर भीतर घुसा भी न था कि सुशील ने आकर कहा—इधर कहाँ चले, आज मेरी गुड़िया का विवाह है । पहले उधर चलो । सुशील का अनुरोध मैं टाल न सका । मुझे उसके साथ जाना ही पड़ा । भीतर जाकर मैंने देखा कि सुशीला ने अपनी गुड़िया के विवाह का बड़ा आयोजन कर रखा है, बड़ी तैयारी की गई है । आंगन की बीचों बीच मंडप बनाया गया है । वह फूलों से खूब सजाया गया है । चारों तरफ मुहल्ले की लड़कियों के झुंड हैं । मुझे ले जाकर सुशीला ने एक अच्छे स्थान पर बैठा दिया । मेरे बैठ जाने पर विवाह का कार्य आरम्भ हुआ । वर वधू के मंडप में प्रवेश होते ही मैंने कहा—‘सुशीला तुमने सब ठीक किया, पर एक बात भूल गई हो ।’ सुशीला ने आग्रह से पूछा—‘वह क्या ? मैंने कहा—पुरोहित तो है ही नहीं । बिना पुरोहित के कहाँ विवाह होता है । सुशीला ने भूल तो स्वीकार कर ली पर वह मेरे पीछे पड़ गई कि मैं ही पुरोहित बनूँ । मैंने उसे एक बात अपनी ओर से समझाने का खूब प्रयत्न किया कि कायस्थ को पुरोहित का आसन ग्रहण करने का अधिकार नहीं है, पर सुशीला क्यों मानने लगी । अन्त में मुझे पुरोहित का आसन ग्रहण करना पड़ा । विवाह आरम्भ हुआ और

यह कहने की जरूरत नहीं कि वह विधि पूर्वक निष्पन्न हुआ । विवाह के अन्त होने पर जब सुशिला वर वधू को उठाकर भीतर ले जाने लगी, तब मैंने उसे रोक कर कहा—यह क्या अन्याय कर रही हो, बिना पुरोहित को दक्षिणा दिये तुम वर वधू को नहीं ले जा सकती । सुशीला ने कहा—अच्छा फूफा, अभी ले जाने दो, कल तुम्हें एक रुमाल बुन कर दे दूँगी ।’ तब मैंने जाने दिया । दूसरे दिन सुशीला ने मुझे एक रुमाल दिया । मैंने उसे संदूक में रख छोड़ा ।

गुड़िया का विवाह एक खेल है, एक तमाशा है, पर अक्षय वृतीया की ही रात्री में यह खेल होता है । विनश्वर संसार में वृतीया की यह रात्रि ही क्यों उत्तम मानी गई है कितने ही विद्वानों का कथन है कि हिन्दू जाति में गुड़िया का सा विवाह होता है । अबोध वर और वधू दोनों एक दूमरे से सर्वथा अपरिचित होनेपर भी विवाह ऐसी दृढ़ बन्धन से बांध दिये जाते हैं जिससे फिर उन्हें मुक्ति नहीं होती । ऐसे विवाह में प्रेम की स्वच्छन्दता नहीं रहती कर्तव्य की कठोरता रहती है । पहले कर्तव्य होता है, पीछे प्रेम आता है । तब क्या विवाह का वही बन्धन अक्षय होता है जहाँ दैनिक जीवन के निरन्तर त्याग, सेवा, सहानुभूति और सहयोग से प्रेम उत्पन्न होता है ? जहाँ विवाह प्रेम का अनुसरण करता है वहाँ उसमें अस्थायित्व रहता है ? क्या गुड़िया की तरह हम लोगों का कोई दूसरा ही भाग्य-विधाता है ? गुड़िया के विवाह का चाहे जो रहस्य हो, पर

इसमें सन्देह नहीं कि लड़कियों के इस उत्सव में मैं अवश्य सम्मिलित होता हूँ ।

(५)

कुछ ही समय के बाद मुझे अन्यत्र जाने का अवसर मिल गया । तब मुझपर अपने गृह का समस्त भार भी आ गया । अब युवावस्था की स्वच्छन्दता नहीं रही । अब मुझे अपनी नहीं, अपने परिवार की चिन्ता करनी पड़ती थी । अब मुझे अपने कष्टों की परवाह नहीं थी, अब मैं यही सोचता था कि मेरे कारण मेरे परिवार को कष्ट न हो । अब मुझमें अधिक कार्यतत्परता आ गई । ज्यों ज्यों मैं अपने कार्य-क्षेत्र में निरत होने लगा त्यों त्यों मुझमें अधिक व्यग्रता आने लगी । युवावस्था के प्रारम्भ-काल में मैंने अपने जिस जीवन पथ को निविघ्न समझा था वही अब मुझे कण्टकाकर्ण प्रतीत होने लगा है । पर उन कण्टकों को दूर करने के लिये मुझ में स्फूर्ति थी, उमंग थी, दृढ़ता थी । महत्वाकांक्षा ने अब एक निश्चित रूप धारण कर लिया था । अब वह कल्पना-जगत् का स्वप्न नहीं था । अब वह यथार्थ जगत् की एक वस्तु थी जिसे दृढ़ता पूर्वक प्राप्त करने के लिये मैं दृढ़ संकल्प कर चुका था । मैं कठोर परिश्रम करता था और अल्प सिद्धि पाने पर भी मैं उद्विग्न नहीं होता था । मुझ में विश्वास की इतनी दृढ़ता थी कि किसी न किसी दिन मैं अपने कार्य में अवश्य सिद्धि पा जाऊँगा । इसी प्रयास में कितने ही वर्ष व्यतीत हो गये ।

एक जगह से दूसरी जगह जाना मेरे लिये तो एक वैसे ही

कष्ट दायक, फिर जब मुझको सागर ऐसे अपरिचित स्थान में जाने की आज्ञा हुई, तब तो एक बार इस्तीफा देकर घर लौट जाने की इच्छा हुई। फिर सोचा, चलो, साल भर की तो बात है, एक बार सागर में भी रह कर देख लें। जब तक घर का प्रबन्ध न हो तब तक परिवार को ले जाना अच्छा नहीं, यह सोच कर मैंने अपने एक मात्र सचे अभिलाषा सहचर और भृत्य सहदेव को साथ ले अकेले ही जाना निश्चित किया। दूसरे दिन ट्रेन से सागर के लिये रवाना हुआ। शाम को मैं विलासपुर पहुँचा। गाड़ी से उतर कर नौकर को सामान सम्हालने के लिये कह कर मैं हाथ मुँह धोने के लिये बाहर नल पर गया। लौट आकर देखता हूँ कि बाबू दीनदयालु जी खड़े हुए सहदेव से बातें कर रहे हैं। मैं खूब उत्साह से उनसे मिला। कुछ देर इधर उधर की बातें होती रहीं। फिर जब उन्होंने सुना कि मैं उसी दिन की गाड़ी से सागर जाने की इच्छा करता हूँ तब तो वे बड़े बिगड़े। आखिर उस दिन मेरा जाना नहीं हुआ। मुझे उनके घर एक दिन के लिये टिक जाना पड़ा। सहदेव को पीछे से सामान लाने के लिए कह मैं उनके साथ चला।

सन्ध्या हो गई थी। स्कूल के लड़के हाथ में हाकिम स्टिक लिये हुए प्रफुल्ल बदन चले आ रहे थे। इधर मैं ४० वर्ष के जीवन का भार लेकर खला जा रहा था। जीवन का विपर्यय ! खैर किसी तरह हम लोग घर पहुँचे। तब तक रात हो गई थी। हम लोगों ने बाहर के कमरे में बैठकर कुछ देर बातें कीं, फिर मैं

भीतर गया । देखा आंगन में लड़कियों की भीड़ लग रही थी । पूछने पर मालूम हुआ कि आज गुड़िया का विवाह है । मुझे १९ वर्ष पहले का दृश्य दिखाई दिया । सब तो वैसा ही है, केवल भेद इतना ही है कि आज सुशीला के स्थान में उसकी लड़की अपनी गुड़िया का विवाह कर रही है । मैं खाने के लिये नहीं गया । वही अपने मन से पुरोहित का आसन ग्रहण कर मैंने गुड़िया का विवाह कराया और वर वधू को अंतःकरण से आशीर्वाद दिया । सुशीला खड़ी देख रही थी । विवाह हो जाने पर दक्षिणास्वरूप उसने हंसते हंसते मुझे एक दूसरा रुमाल दिया । जब मैं खा पीकर बाहर के कमरे में आया, तब मैंने संदूक खोल कर अपना पुराना रुमाल निकाला । फिर मैंने अतीत और वर्तमान को एक ही सूत्र में बाँध दिया । इसके बाद भगवान् की प्रार्थना कर मैंने आकाश मंडल पर दृष्टिपात किया, देखा कि अनन्त के वक्षस्थल पर द्वितीया का बाल चन्द्रमा हंस रहा है ।

मोटर स्टैंड पर

आज मैं जो कहानी सुनाने बैठा हूँ, उसमें न घटना है और न चरित्र-वैचित्र्य। फिर भी वह जीवन की एक कथा। जिसमें कल्पना नहीं, सत्य है, जिसमें कला नहीं, यथार्थता है। किसी राजा के विषय में यह कथा प्रसिद्ध है कि उसे कथा सुनने का बड़ा अनुराग था। परन्तु उसके इस कथानुराग की पूर्ति कोई भी विज्ञ नहीं कर सकता था। बात यह है कि राजा में जीवन के संबंध में जो एक प्रबल जिज्ञासा का भाव था, उसका अंत नहीं था। कितने ही विज्ञ उस राजा को कथा सुनाने के लिये गये। वे एक के बाद दूसरे के जीवन की घटनाओं का वर्णन करते जाते थे। राजा उन्हें सुनता जाता था। ज्योंही एक घटना का अंत होता था, त्योंही वह पूछ बैठता था—और तब ? कथाकार फिर अपनी कल्पना के द्वारा एक दूसरी घटना का वर्णन करता था। अन्त में वह नायक और नायिका की मृत्यु में जीवन-कथा का अन्त कर देता था। परन्तु राजा के कौतूहल की निवृत्ति नहीं होती थी। मृत्यु के बाद भी वह पूछता था—और तब ? तब कितने ही कलाकारों ने मृत्यु के अज्ञात रहस्य-मय देश से भी नायक को फिर मृत्यु-लोक में लाकर उसके जीवन का अन्त सुख और समृद्धि में पूर्ण कर दिया। परन्तु राजा सुख और समृद्धि

के विकास से भी जीवन का अंत न पाकर पूछ ही बैठता था— और तब ? तब सभी कलाकारों का कला-कौशल उस 'और तब' का उत्तर देने में असफल हो जाता था । कोई भी व्यक्ति उस राजा के कौतूहल की निवृत्ति अपनी कल्पना से प्रयास द्वारा नहीं कर सका । मनुष्य-भाव के स्वभाव में भी यही चिरंतन कौतूहल है । ज्ञान और कल्पना दोनों का एक-मात्र लक्ष्य उस कौतूहल-वृत्ति को ही सन्तुष्ट करना है । अनन्त-काल से सभी विज्ञान जीवन की सभी परिस्थितियों का वर्णन करते चले आ रहे हैं । ज्ञान के जीवन के रहस्य-सागर से कितने ही तत्व खोज निकाले । कल्पना ने जीवन के अनन्त नभो-मण्डल में विहार कर मनुष्य को भाव के माया-लोक में प्रविष्ट कराया । परन्तु वह कौतूहल अभी तक बना हुआ है । न तो ज्ञान की कोई सीमा है और न जिज्ञासा का कोई अन्त है । कल्पना असीम है और कौतूहल भी अनन्त है । इसी प्रकार हम लोगों का जीवन-प्रवाह भी अनन्त है । तभी तो हम लोगों की जीवन-कथा का अन्त नहीं होता है । अभी जिस राजा का उल्लेख किया गया है, उसको इसी अनन्त जीवन-प्रवाह की बात कह कर एक चतुर व्यक्ति ने सर्वथा निरुत्तर कर दिया । उस कथा में यह कहा गया है कि, जब सभी कलाकार अपने प्रयास में असफल हो गये तब एक चतुर व्यक्ति राजा को कथा सुनाने बैठा । वह कहने लगा— एक था किसान । उसने अपने खेतों में धान बोया । ठीक समय में खूब वर्षा हुई । राजा ने पूछा—और तब ? वह कहने लगा

और तब धान की खूब उपज हुई। उस किसान ने धान को रखने के लिये ६०० कोठे बनवाये। सब धान उनमें रख दिये गये। राजा ने पूछा—और तब ? वह कहने लगा—और जंगल से एक चिड़िया आई। वह एक कोठे में घुम गई और चोंच में अनाज के कुछ दाने ले वह फुर्र से उड़ गयी। राजा ने पूछा—और तब ? वह कहने लगा तब और एक चिड़िया आई और वह भी अनाज के कुछ दाने लेकर फुर्र से उड़ गई। राजा ने पूछा—और तब ? उसने कहा—तब एक और चिड़िया आई और वह भी अनाज के कुछ दाने लेकर उड़ गई। राजा ने पूछा—कब तक चिड़िया यों ही फुर्र-फुर्र उड़ती रहेगी ? उसने कहा—जंगलों में न तो चिड़ियाँ कम हैं और न कोठों में दाने। जब तक कोठों में दानों का अन्त न हो जायगा, तब तक एक के बाद एक चिड़िया आती रहेगी और अनाज के कुछ दाने लेकर फुर्र-फुर्र उड़ती रहेगी।

यही हम लोगों की जीवन-कथा भी है। प्रकृति अनन्त है। जीवन की गति का भी अन्त नहीं है। संसार में एक आता है और अच्छे बुरे कर्म कर और कुछ सुख-दुख का उपभोग कर चला जाता है। फिर दूसरा आता है; वह भी भले-बुरे काम कर चला जाता है और यश तथा अपयश का उपभोग करता है। न कर्म-चक्र क्षणभर रुकता है, और न जीवन की गति पल-भर अवरुद्ध होती है। यही कारण है कि प्राचीन-काल से आज तक कथा-साहित्य का विकास होता जा रहा है। विश्व-साहित्य में

कथाओं की गगन-स्पर्शी राशि हो जाने पर भी कथाओं की रचना बराबर होती जा रही है। कथा-रस के लिये हम लोगों में जो पिपासा है, उसकी कभी तृप्ति नहीं हो सकती।

कथा-साहित्य अत्यंत प्राचीन है, परन्तु आधुनिक कथा-साहित्य ने अब एक विशिष्ट कला निर्मित कर ली है। संगीत-कला की तरह उसमें भी अत्यधिक स्वर-वैचित्र्य है। मानव-जीवन में जहाँ एक ओर जितनी समता है, वहाँ दूसरी ओर उतनी ही विषमता है। जाति-जाति में, समाज-समाज में, व्यक्ति-व्यक्ति में विभिन्नता है। और किसी भी मोटर-स्टेन्ड में जीवन का वह वैचित्र्य सभी यात्रियों के लिये यात्रा का एक ही साधन होने पर भी उन सभी के पृथक् पृथक् विचार, पृथक् पृथक् कार्य, पृथक् पृथक् गन्तव्य स्थान भी होते हैं।

संसार की तरह मोटर-स्टेन्ड में भी लोग प्रति दिन आते जाते रहते हैं। वहाँ भी जीवन की वही क्षणिकता रहती है। मैंने भी वही रामगोपाल बाबू को देखा। रामगोपाल बाबू की वाग्मिता से हम सब परिचित हैं। कायस्थों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे बड़े वाक्-शूर होते हैं; परन्तु कायस्थों में भी सभी राम-गोपाल बाबू की सी वाक्-दिग्धता नहीं रखते हैं। उनकी वाणी के प्रवाह में सभी श्रोता बह जाते हैं। अपने इसी वाक्-नैपुण्य के कारण वे किसी प्रकार की परीक्षा पास न कर स्टेट से वकील होने के लिये सनद प्राप्त कर चुके हैं। उनकी अवस्था ७५ वर्ष की हो गई है। उनके शरीर में जरा की शिथिलता आ गई है।

पर उनमें अभी तक वाणी की वही स्फूर्ति है। इसीलिये उस दिन मोटर-स्टैंड पर सहसा उनसे भेंट होने पर मैं बड़ी देर तक उनके पास बैठकर उनकी बातें सुनता रहा। पौन घंटे में उन्होंने मुझे जितनी बातें बतलाई, उनमें उन्हीं के ही नहीं, समस्त नगर और देश तक के अतीत-जीवन का चित्र मेरे लिये प्रस्तुत हो हो गया। सुखदुख और उत्थान-पतन की कितनी ही छोटी-बड़ी घटनाओं का वर्णन कर उन्होंने मेरे हृदय पर काल की महिमा अंकित कर दी।

मैंने कौतूहल-वश उनसे उनके प्रारंभिक-जीवन के सम्बन्ध में पूछा। तब उन्होंने बतलाया कि उनके पिता के पहले कोई पुत्र नहीं था। उनमें पुत्र की बड़ी लालसा थी। एक ज्योतिषी ने उनको बतलाया कि उन्हें एक बड़ा प्रतापी पुत्र होगा। वह कीर्ति और गौरव प्राप्त करेगा। वह हाथी घोड़े पर चढ़कर यात्रा करेगा। सभी लोग उसका मान करेंगे। ज्योतिषीजी की यह बात सुनकर उनके पिता चकित रह गये। फिर रामगोपाल बाबू का जन्म हुआ। उनपर पिता का अत्यधिक प्रेम था। विवाह की बात पूछने पर उन्होंने कहा—विवाह मेरा तब हुआ जब मेरी आयु दो वर्ष की थी। मुझे सहसा विश्वास न हुआ। मैंने विस्मित होकर कहा—दो वर्ष! उन्होंने मेरा विस्मय देख हँसकर कहा—हाँ, दो वर्ष या उससे भी कम। बात यह है कि उस समय विवाह एक धार्मिक उत्सव माना जाता था। जो किसी भी अवस्था में मनाया जा सकता था। उसमें लौकिक नहीं, पार-

लौकिक भावना काम करती थी। विवाह में वर-वधू का स्थान गौण था। वे दोनों केवल उत्सव के निमित्त-मात्र थे। दस दिन गणेश-पूजा का उत्सव मनाने के लिये गणेशजी की बड़ी या छोटी किसी भी मूर्ति से काम चल सकता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि गणेशजी की विशाल मूर्ति होनी चाहिये। इसी प्रकार किसी भी वर और किसी भी वधू से वह उत्सव सम्पन्न हो जाता था। उस उत्सव में माता-पिता, स्वजन, परिजन, बन्धु-बान्धव इन सभी का प्रमुख स्थान रहता था। वह प्रेम का सम्मेलन था। दो विभिन्न परिवार के लोग स्नेह-सूत्र में बद्ध होते थे। उस समय यदि कोई व्यक्ति किसी कारण समाज से पृथक् रहता था तो वह भी सभा में मिला लिया जाता था। इस प्रकार विवाह एक धार्मिक और सामाजिक शुभ-कृत था। आज कल विवाह में समाज या धर्म का कोई भाव नहीं है। उसमें ऐहिक स्वार्थ वासना या भावना ही है। इसीलिये उसमें अब वर-वधू मुख्य हैं, समाज और धर्म नहीं। तभी प्राप्त-वयस्क होने पर जीवन-निर्वाह के लिये अन्य साधनों के साथ विवाह के द्वारा एक साधन प्राप्त किया जाता है। तब मैंने पूछा दो वर्ष में विवाह हो जाने पर आप किस आयु में संसार के कार्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हो गये ?

उन्होंने उत्तर दिया—तेरह वर्ष की उम्र से नौकर हो गया और घर का सारा काम-काज देखने लगा। अब इस उम्र में आप लोग तो शायद अपने कपड़े संभालने योग्य भी नहीं होते हैं। अपने मन के भाव को दबाकर मैंने पूछा—और वेतन आप क्या पाते थे ?

उन्होंने कहा—वेतन ? मेरे पिता ३) रु० प्रतिमास पाते थे और मैं ७) रु० मासिक वेतन पर नियुक्त हुआ। आज जो काम ७०) रु० में सम्भव नहीं वह तब ७) में हो जाता। तब मैंने कुछ ताने के स्वर में कहा—तब सतयुग था। उन्होंने कहा—हाँ, तब सचमुच सतयुग था। तब न दुर्मिक्ष का यह हाहाकार था और न लोभ का चीत्कार। ७) मासिक पाने पर भी जब मैं आम मुख्तियार होकर घोड़े पर चढ़ कर सवारों और अर्दलियों के साथ घर पहुँचा तब मेरे पिता हर्ष से गद्गद हो गये। तब उन्होंने मुझे ज्योतिषी जी की भविष्य-वाणी बतलाई।

मैंने कहा—और तब ?

वे कहने लगे—मैं कितने ही स्थानों को घूमता रहा, कितने ही जगहों में नौकरी करता रहा। मैंने पुत्र का वियोग सहा, पत्नी का वियोग सहा। एक एक कर मेरे कितने ही बन्धु-बान्धव और इष्ट मित्र चल बसे। यही तो संसार है। सभी अवस्थाओं में पड़कर हम जीवन को काट ही लेते हैं। दुःख होता है, विपत्ति आती है, शोक से हम अधीर हो जाते हैं। फिर भी जीवन अपने लिए एक नया मोह-जाल निर्मित कर लेता है। कन्या के न रहने पर मैंने अपनी कन्या की कन्याओं की ही चिन्ता की। पुत्र न रहने पर अपने भाई के पुत्रों के स्नेह में फँस गया। अब उन्हीं में मेरा जीवन बढ़ है।

यह कहकर रामगोपाल बाबू चुप हो गये। मैं भी कुछ देर चुप रहा। कुछ क्षण के बाद उन्होंने एक लम्बी सांस लेकर कहा—

और अब तो सब कुछ बदल गया है। मैं बदल गया, मेरा देश भी बदल गया है। न वह धर्म है, न वह नीति, न वह विचार है और न वह युग है। आप लोगों का अब दूसरा ही आदर्श है। यह सब पाश्चात्य शिक्षा का फल है। अब दैन्य के साथ दुर्भिक्ष का भी प्रकोप बढ़ने लगा। आर्थिक-हीनता के कारण लोगों में अर्थ-लोलुपता भी बढ़ने लगी और स्वार्थों का संघर्ष भी बढ़ने लगा है सच तो यह है कि जिस तरह हमारी पूर्वीय सभ्यता का मूल-मन्त्र है समन्वय और संतोष, वैसे ही पाश्चात्यों का मूल सिद्धान्त है संघर्ष और संतोष। उसका कथन है कि जब तक मनुष्य को अपनी परिस्थिति से असंतोष नहीं होता, तब तक वह किसी भी प्रकार अपनी उन्नति नहीं कर सकता। इसलिये अपना परिस्थिति से असंतोष पैदा करो, फिर उन्नति के साधन आपसे आप सुलभ हो जावेंगे। इसी सिद्धान्त का प्रचार होने से समय की गति के साथ समाज की गति भी परिवर्तित हो गई। असंतोष के साथ क्रान्ति, क्रान्ति के साथ विद्रोह, विद्रोह के साथ अशान्ति और अशान्ति के साथ विद्वेष और वैमनस्य की वृद्धि होने लगी है। एक वर्ग के साथ दूसरे वर्ग का संघर्ष होने लगा है। इसी प्रकार व्यक्तियों में भी भीषण संघर्ष होने लगा है। अर्थ को जीवन का लक्ष्य मानकर हम लोग धर्म और नीति की उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे हैं। पेट की समस्या सबसे बड़ी समस्या हो गई है। मजदूरों के साथ पूँजीपतियों का और पूँजीपतियों के साथ शासकों का विरोध होने लगा है। सभी के भीतर स्वार्थ-लोलुपता

ने भयानक रूप धारण कर लिया है। उसी के साथ छल-कपट अन्याय और असत्य की भी वृद्धि होने लगी है। इस छोटे नगर में भी स्वार्थ-लोलुपता का ताण्डव नृत्य होने लगा है। लोग दल बद्ध होकर अपने-अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये विरोध करने लगे हैं। सत्य का नाम लेकर असत्य का प्रचार किया जाने लगा है। स्नेह और सद्भाव का तो लोप ही हो गया है। यह क्रांति का युग है। क्रांति की आँधी ने लोगों के जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया है। इसका क्या परिणाम होगा यह तो विद्वान्-जन ही कह सकते हैं। परन्तु अभी जगह-जगह उपद्रव और उत्पात ही हो रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि वर्तमान विसर्ग नव-युग की सूचना दे रहा है। जब उस नवयुग का आविर्भाव होगा तभी जीवन में शान्ति और सुव्यवस्था आयेगी।

मैं उनके कथन का प्रतिवाद न कर सका। मैंने कहा—आपका कथन बिल्कुल ठीक है। अब सचमुच दूसरा युग आ गया है।

उन्होंने कहा—युग बदलता है। युग के साथ आदर्श भी बदलता है। यह तो मेरे जीवन की अंतिम दौड़ है। मैं यह स्पष्ट देख रहा हूँ। कि मैं अब अतीत युग का प्राणी हो गया हूँ। धर्म के संबंध में मेरी जो धारणा है, वह इस प्रगति शील-युग में अन्ध-विश्वास ही है। जाति व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था के विषय में मेरे जो विचार हैं, वे अब प्रगति शील नवयुवकों को अनिष्टकर प्रतीत होते हैं। सुनीति और सदाचार की भी अब एक दूसरी ही मर्यादा स्थापित हो रही है। पुरुषों के साथ-साथ

नारियों के भी विचारों में जो परिवर्तन हो रहा है, वह मेरे लिये विस्मय-जनक है। इस युग की रुचि दूसरी है, विश्वास दूसरा है, आचरण भी दूसरा हो गया है। परिवर्तन ही तो जीवन का नियम है। परन्तु जीवन की इस अवस्था में सहसा परिवर्तन सम्भव नहीं है, जो हां चुका, वह हो चुका; जो बन चुका, वह बन चुका। मेरे लिये धर्म अब चटनी की तरह आस्वादन को वस्तु नहीं है। यह सम्भव नहीं कि आज मैं पूजा का मजा लूँ और कल नमाज का। यह भी अब मेरे लिये सम्भव नहीं है कि किसी के घर खा लेने से किसी के हाथ का पानी पी लेने से मेरे साथ उसका स्नेह सम्बन्ध हो जाये या यह न करने पर उसके प्रति घृणा या विद्वेष का भाव आ जाये। अन्य विजातीय या स्वजातीय लोगों के साथ स्नेह का जैसा भी सम्बन्ध है, वह खाने-पीने के लाख व्यवधान रहने पर भी अक्षुण्य बना रहेगा। समाज-शास्त्र या दर्शन चाहे कुछ भी कहे, मेरे हृदय में तो वही संस्कार काम कर रहे हैं।

काल की क्षिप्रगति की तरह उसी समय धड़-धड़ करती हुई मोटर लारी आ गई और राम-गोपाल बाबू उसी में बैठकर छुईखदान चले गये। मोटर-स्टैंड में फिर वही शून्यता और निस्तब्धता छा गई। एक मैं ही अँधेरे में बैठा हुआ चुपचाप उस शून्यता में जीवन की शून्यता का अनुभव कर रहा था।

दीपावली

संध्या होते ही दीपावली के उज्ज्वल आलोक से निशा हँसने लगी। उस समय ऐसा जान पड़ता था कि सारे संसार में स्नेह सौंदर्य और उल्लास की दीप्ति फैल गई है। मैं जब घर से बाहर निकला तब दीपावली की इसी अपूर्व श्री को देखकर अपने मन में एक अलौकिक आनन्द के भाव में निमग्न हो गया था। पर जब छः घंटे बाद मैं घर लौटने लगा तब मैंने देखा कि कितने ही दीप बुझ चुके हैं, दो-चार दीपों की व्योति इतनी क्षीण हो गई है कि अब बुझने पर थे। उसी समय ठण्डी पवन का एक झोका भी आया और वे प्रदीप भी बुझ गये और चारों ओर घोर अन्धकार छा गया। मैं सड़क पर अकेला चला आ रहा था। रात अधिक हो जाने से ओस की कुछ बूँदें भी टपकने लगी थीं। रह-रह कर शीतल पवन बह उठती थी। चारों ओर एक निस्तब्धता, गम्भीरता और शून्यता छाई हुई थी। मैंने उस निशा में माता की उस व्यथा का अनुभव किया जो अपने छोटे बच्चे को खो चुकी है। उस निशा में वही विषाद था, वही दीर्घ निश्वास था, वेदना का वही निस्तब्धता थी और पीड़ा का वही अन्धकार था।

बच्चा रो रहा था। जब से हुआ था, तब से उसकी यही स्थिति थी। न कुछ समझता है, न कुछ बोलता है। केवल दूध

का सहारा है। हंसता है, ऐसा हंसता है कि मां का हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। वह उसे हृदय से लगा लेती है और कहती है—मेरे लाल, मैं तेरी यह हंसी हमेशा देखूँ। ढाई साल का बच्चा था, लेकिन मां उसे पांच ही महीने का समझती थी। चार पाई पर वह सोया रहता था और पैर पटक-पटक कर खेला करता था। किलकारी से कमरा गूँज उठता था। मां बाप दोनों देखकर खुश होते थे। उन लोगों का भगवान् पर विश्वास था। बड़े-बड़े डाक्टरों को बच्चा दिखा चुके थे। पांच साल में बच्चा चलेगा, बोलेगा, यही डाक्टरों ने बतलाया। उस दिन की आशा लगाये दोनों बच्चे की सेवा करते रहे। क्यों बाबा, अभी तू पांच महीने का है ना ? पांच महीने में साल भर का होगा। तब कहीं चलेगा कहकर पिता हंस देते थे। उस समय कहीं मां होती तो बच्चे को उठा लेती और हंसती हुई कहती—देखना मेरा बच्चा जरूर चलेगा, बड़ा भाग्य-शाली है। बच्चा चन्द्रमा के समान सुन्दर था। उसके चेहरे पर कान्ति थी, इसीलिये मां उसे हमेशा भाग्य-शाली ही कहती लेकिन विधि की गति को कोई नहीं जान सकता यदि मां से कोई बच्चे का हाल पूछती तो मां को बहुत बुरा लगता। उसकी उम्र तो वह हमेशा छिपाकर ही बताती थी। एक दिन एक पड़ोसिन आई उसने बच्चे को देखकर पूछा—क्यों बहन, यह कितने महीने का है ?

मां ने कहा—कोई साल भर का है। साल भर का, वह अचम्भे में आ गई, उसने पूछा—‘वह खाना तो खाता होगा।’

मां ने कहा-हाँ, खायेगा क्यों नहीं बहन, अभी तो दूध पीता है, बड़ा होगा तब आपही खायगा। मैं बहुत बीमार थी बहन, उसी समय यह बच्चा हुआ था, इसी से जरा कमजोर है।

पद्मोसिन ने फिर कुछ न पूछा। वह चली गई। उसके जाने के बाद मां बाबा को छाती से लगाकर भगवान से प्रार्थना करने लगी-हे भगवान, मेरे लाल को जल्दी अच्छा कर दो। मेरे बच्चे का कोई अपमान न करे। वह दिन जरूर आयगा, तब वह बोलेगा, खायेगा। तब मुझे कितना आनन्द मालूम होगा। यह सोचकर उसका रोम-रोम आनन्द से पुलकित हो उठा। वह बार-बार बच्चे को प्रेम से चूमती थी। आस पर आस लगाये बैठी थी पर कच्चा-धागा कब तक काम देता। बच्चा दिन-दिन बीमार रहने लगा। कभी बदहजमी हो जाती तो कभी बुखार। आखिर एक दिन एक वैद्यराज जी आये। मां ने जाकर बच्चे को दिखलाया और उसका हाल बतलाया। सब कुछ सुनकर वैद्यराज जी बोले-‘बाई इतनी चिन्ता करना फजूल है। इसकी दवा ही नहीं है। यह तुझे धोखा देगा।’

यह सुनकर मां उठकर चली आई और वहाँ जाने के लिये पल्लताने लगी कि इतने में उसके पति वहाँ आ गये। वह कहने लगी-देखो, यह वैद्य बनकर आया है। मेरे बच्चे को कोस रहा है। अच्छा हो जायगा तब पूछूँगी क्यों कलमुहे कहाँ गया तेरा वैद्यक ? क्यों मेरा बच्चा अच्छा हुआ की नहीं ? लेकिन यह मां की मिथ्या कल्पना थी। बच्चा दिन-दिन दुबला होता गया।

नाना प्रकार की दवाइयाँ हुई, लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ । कमलसा चेहरा मुझा गया । जिस हंसी से मां-बाप पुलकित होते थे, वह हंसी गायब हो गई । वह दिन रात रोता, जैसे भगवान ने उसे रोने के लिए ही भेजा है । रात-रात भर मां-बाप जागकर उसे बहलाते थे, लेकिन बच्चा चुप नहीं होता था । मां कभी प्यार करती कभी घुमाती पर वह चुप नहीं होता था आखीर मां भी रोने लगती थी ।

दिन-दिन तकलीफ बढ़ती ही गई । हाथ-पैर सीधे ही नहीं होते थे । सब शरीर सूज गया था । पैर छूने पर वह चिल्ला उठता था । अत्यन्त पीड़ा थी । मां कभी सेक करती, कभी मालिस करती, कभी लेप करती; लेकिन बच्चे को आराम नहीं मिला । उसकी तकलीफ देखकर मां व्याकुल हो गई और बार-बार भगवान से प्रार्थना करने लगी—हे भगवान, मेरे बच्चे को आराम कर और कुछ नहीं कर सकता तो उसे अपने ही पास बुलाते । जिसे मैं सुखी नहीं रख सकी उसे तू सुखी रख । इसकी तकलीफ देखकर मां का हृदय विदीर्ण हो जाता है । कहने के लिये तो कह गई पर उसे उसका ही हृदय धिक्कारने लगा । मानो कह रही है—अरे पापिन, अपने को तू ही मार रही है । वह दौड़कर बच्चे को छाती से लगा लेती है । लेकिन यह क्या बच्चे का शरीर बर्फ जैसे ठन्डा था । जोर से सांस चल रही थी । मां बच्चे को पलंग पर लिटा देती है और आग लाकर सेंकने लगती है । पर उसकी आयु तो पूरी हो गई थी । सेकने से होता ही क्या था । बच्चे ने बड़ी जोर

से चीख मारी और हाथ-पैर पटक दिये । प्राण-पखेरू उड़ गये । मां-बाप दोनों रोने लगे ।

दिन पर दिन व्यतीत होते जाते हैं पर मां अपने बच्चे को नहीं भूलती हमेशा उसके हृदय में एक हूक सी उठती है । मानो हृदय कह रहा है—तूने ही बच्चे की हत्या की है, तूही हत्यारिन है ।

मैं जब तक घर पहुँचा तब तक वह अन्तिम प्रदीप भी बुझ गया जो मुझे अभी तक दूर से टिमटिमाते हुए दिखाई दे रहा था । अन्धकार ने उस प्रदीप के सारे प्रयासों को विफल कर उसको प्रस्त कर लिया । मैंने दीपक को उठाकर देखा । उसमें बत्ती अभी तक पड़ी हुई थी जो किसी के स्नेह रस से अभी तक आर्द्र थी । पर अब उसकी अर्न्तव्योति उस विराट अन्धकार की शून्यता में लीन हो गई थी ।

मेरे लिए

कुछ समय पहले एक पत्र आया था। उसमें व्यवसाय की ही बात थी। आज एक कार्यवश मैं उसी को खोजता रहा। वह पत्र तो नहीं मिला, पर कितने ही दूसरे पत्र मिल गये। उन्हीं को पढ़ता रहा। कितनी ही विस्तृत बातें याद आ गईं, कितने ही अतीत दिनों के चित्र मन में उदित हो गये। एक घंटे तक मैं उन्हीं में बिलकुल डूब गया। अनूप के आजाने से मेरा ध्यान भंग हो गया और तब मैं मानों अतीत से निकल कर वर्तमान में आ गया।

साहित्य के क्षेत्र में मुझे काम करते तीस वर्ष से अधिक हो गये। यही कारण है कि मेरे पास जितने पत्र हैं उनमें अधिकांश मेरे साहित्य बंधुओं के द्वारा लिखे गये हैं। साहित्य में काम करने से हम लोगों में जो बंधुत्व स्थापित हो जाता है। उसके लिये कोई विशेष परिचय की आवश्यकता नहीं होती। मेरे पत्र-प्रेषकों में से कितने ही ऐसे हैं जिनको मैंने देखा तक नहीं है। वह आशा भी नहीं है कि मैं उन्हें देख सकूँ। पर इनके पत्रों में आत्मीयता का भाव अवश्य है। अपरिचित और अज्ञात होने पर भी वे मेरे लिये बंधु ही हैं। उनके पत्रों के साथ साथ अन्य लोगों के भी पत्र हैं। उनमें कुछ मेरे परिवार के लोग हैं

और कुछ मेरे मित्र भी हैं। पर चाहे साहित्य सेवियों के पत्र हों या अन्य लोगों के, उन सभी में कला की कोई विशेषता नहीं है। बात यह है कि पत्र लिखते समय हम अपने सच्चे भावों को सच्चे ढंगसे स्पष्ट कर देना चाहते हैं। उनमें हम भाषा-नैपुण्य या शब्द-कौशल नहीं प्रदर्शित करते। उनकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। कला में हम सत्य को अलंकृत करते हैं। जो असुन्दर हैं उसको भी हम सुन्दर बना डालते हैं। उसमें सत्य की कठोर यथार्थता नहीं होती, उसमें कल्पना की मधुरता रहती है। इसी से कला जगत् की वस्तु नहीं है। वह अन्तर्जगत् की रचना है। वह कपट का प्रयास नहीं है। वह आनन्द की सृष्टि है। वह दैनिक जीवन की आवश्यकताओं, कष्टों और प्रयासों का अतिक्रमण कर स्वयं अपने में भी सार्थकता प्राप्त करती है। परन्तु पत्र बिलकुल काम-काज की ही चीज है और दैनिक जीवन की अन्य आवश्यक चीजों की तरह उसकी भी क्षणिक उपयोगिता है। हम तभी तक उसके लिये व्यग्र रहते हैं जब तक वह आता नहीं। आते ही उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है। एक दिन से अधिक वह टिक नहीं सकती। इसीसे अधिकांश लोग पत्र पढ़ कर फाड़ देते हैं या फेंक देते हैं। पर मैं अपने पत्रों को न फाड़ सकता हूँ और न फेंक सकता हूँ। मैं उन्हें अपनी कापियों के साथ रख छोड़ता हूँ। उनमें से कितने ही पत्र खो जाते हैं, फिर भी मेरे पास पत्रों का एक बृहत संग्रह हो गया है। आज उन पत्रों की बातों का कोई महत्ता नहीं है। उनके भीतर स्नेह या तिर-

स्कार, चिंता या आनंद, ममता या विद्वेश, मधुरता या कटुता, श्लोभ या उद्वेग, उपदेश या निर्देश, मान या अपमान स्तुति या निंदा, उपेक्षा या उपहास सभी अपना सार खो चुके हैं। जब मुझे वे पत्र मिले थे तब उनका प्रभाव मुझ पर अवश्य पड़ा था। मैं कभी प्रसन्न हुआ था, कभी उद्विग्न हो गया था, कभी चिंतित हुआ था, कभी निराश हुआ था, कभी क्रुद्ध हुआ था। उस समय मेरी कुछ दूसरी ही मानसिक स्थिति थी, अब मेरी कुछ दूसरी ही स्थिति है। भीतर और बाहर दोनों में परिवर्तन हो गया है। पहले जो अपमान-जनक प्रतीत होता था अब उसीमें मुझे स्नेह का एक निगूढ़ भाव लक्षित होता है। क्रोध-पूर्ण भर्त्सना में मैं आत्मीयता का स्नेह-भाव पाता हूँ। स्तुति पूर्ण पत्रों में मैं केवल एक मिथ्या भाव का अनुभव कर रहा हूँ। सच तो यह है कि अब मुझ पर उन पत्रों का विपरीत ही प्रभाव पड़ता है। कभी किसी पत्र को पढ़ कर मैं सोचता हूँ कि मैं कितना बेवकूफ था कि उस पत्र पर विश्वास कर मैं व्यर्थ आशा में पड़ा रहा। कभी किसी ओर पत्र को पढ़ कर मैं यह सोचता हूँ कि इसने मुझको कितना चक्कर खिलाया। इसी तरह कितने ही पत्रों को पढ़ कर मुझमें अब कितने ही तरह के भाव होते हैं। पर उन भावों में तीव्रता नहीं रहती। मुझमें अब अपमान की वह व्यथा नहीं है, आशा भी वह ज्योति भी नहीं है। शरीर के साथ मैं मन में भी परिवर्तन का अनुभव कर रहा हूँ। शरीर क्षीण हो गया है और मन में भी शिथिलता आ गई है। पर न इच्छाओं का लोप

हुआ है और न चिंताओं का। पहले कुछ और इच्छायें थी अब कुछ दूसरी ही इच्छायें हैं। ज्यों ज्यों हम जीवन के पथ पर अग्रसर होते जाते हैं, त्यों त्यों हमारा कार्यभार बढ़ता जाता है। हमारी स्वार्थ भावनायें प्रबल होती जाती हैं संघर्ष बढ़ जाता है। उदारता के स्थान में संकीर्णता आ जाती है। तब अतीत की स्मृति से हमें एक प्रेरणा मिलती है। यही कारण है कि पत्रों का यह संग्रह मेरे लिये स्पृहणीय है। मैं उन्हें यदा कदा पढ़ लिया करता हूँ। उससे मैं अपने अतीत काल को वर्तमान में क्षण भर उपलब्ध करता हूँ। कल्पना का क्षणिक मोह भी अपने जीवन की एक इस स्थिति में मेरे लिये सुखद है।

यह सच है कि साहित्य में अब पत्रों का भी स्थान हो गया है। आख्यायिका साहित्य में तो पत्रों की विशेष महत्ता हो गई है। कितने ही आख्यायिकाकार पत्रों के रूप में कहानियाँ लिखा करते हैं। पर ये पत्र प्रायः प्रेम-पत्र ही होते हैं। उनमें पत्र की कोई विशेषता नहीं होती, उनमें भावों का सुकोमल उच्छ्वास रहता है। मैंने देखा है कि प्रायः ऐसे पत्र आख्यायिकाकारों द्वारा किसी ऐसी युवती से लिखाये जाते हैं जो प्रेम के पथ में नैराश्य युक्त वेदना का अनुभव कर चुकी है। महादेवी वर्मा की कविताओं की तरह उनमें भी हृदय की अज्ञात प्रेम-जन्य वेदना ही रस उत्पन्न करती है। साधारण लोगों के जीवन में निष्फल प्रेम की वेदना से उतना कष्ट नहीं होता जितना स्वार्थ-सिद्धि के विफल प्रयास से होता है। जीवन में प्रतिदिन हमलोगों में ऐसी बातों

को लेकर क्रोध, घृणा, ग्लानि, लोभ, परिताप, तिरस्कार, और निद्वेष होते हैं, जिनकी क्षुद्रता में किसी अन्य व्यक्ति को संदेह नहीं होता। घर में प्रति दिन झंझटें होती हैं और जिसके कारण हमलोग सदैव त्रस्त रहते हैं। उनमें सरस-प्रेम चिंता के स्थान में नीरसस्वार्थ चिंता ही प्रधान रहती है। इसीलिये जो सब पत्र होते हैं उनमें न भावुकता रहती है और न कल्पना। किसी भी दूरस्थ पति की स्त्री के पत्र घर की झंझटों के वर्णन से भरे रहते हैं। किसकी तबीयत खराब है, किसके यहाँ किसका विवाह हो रहा है किसके न्याते में कहाँ जाना है और क्या क्या ले जाना है। किस जेठानी या देवरानी ने क्या ताने दिये या झगड़े किये थे किस ननद ने कुछ न पाने पर कैसी कटुक्तियाँ कहीं या किस लड़के या लड़की ने क्या क्या उत्पात किये और किस किसकी क्या क्या मांग है इन्हीं बातों से सारा पत्र भरा रहता है। सारांश यह होता है कि अधिक से अधिक रूपयों की आवश्यकता है। पुत्र के पत्रों में भी रूपयों की ही मांग रहती है। मित्रों के पत्रों में किसी न किसी प्रतिकूल स्थिति या विपत्ति का हाल रहता है। सभी के भीतर असंतोष का मान प्रबल होता है। उनमें रसका सर्वथा अभाव रहता है। पर उनसे रस न पाने पर भी उन्हीं से हमें कभी सांत्वना होती है, कभी घबराहट होती है, कभी प्रसन्नता होती है, कभी चिंता होती है, कभी आशा होती है, कभी नैराश्य होता है और कभी क्रोध होता है। साहित्य जगत में जिन नव रसों के द्वारा रसिकों को एक अलौकिक और अनिर्वचनीय आनंद

प्राप्त होता है उनके सभी स्थायीभाव और अनुभाव हम पत्रों द्वारा पा लेते हैं। फिर भी उनकी गणना रस साहित्य में नहीं की जाती। साहित्य में उन्हें स्थान देने के लिये कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। सत्य के यथार्थ रूप का भाव कृत्रिम विन्यास और भाषा के कृत्रिम परिधान तथा अलंकार से सजाना पड़ता है। इसी से कल्पना के प्रयास से मैं भी यहाँ अन्य आख्यायिकाकारों की तरह कुछ पत्र लिख रहा हूँ। उनमें जीवन की वही कथा है जिसकी रचना स्वयं काम करती रहती है।

(१)

तुम्हें मेरा यह पत्र पाकर कुछ आश्चर्य होगा। तुमने कभी यह न सोचा होगा कि मैं यहाँ हूँ। मैंने भी कभी नहीं सोचा था कि मैं यहाँ रहूँगी। मैंने जान बूझ कर किसी को अपना पता नहीं बतलाया था। पांडवों ने अपनी एक भूल के कारण एक वर्ष तक अज्ञातवास किया था। मैंने भी अपनी एक भूल के लिये एक वर्ष तक अज्ञातवास किया। परीक्षा में फेल हो जाने से दुख के साथ एक हीनता के भाव से लज्जा भी होती है, पर अब मैं पास हो गई हूँ। हीनता का वह भाव भी अब दूर हो गया है इसीलिये तुम्हें निश्चिन्त होकर लिख रही हूँ। पहले जब मैं यहाँ आई थी तब मेरे मन में यह शंका हो रही थी कि मैं यहाँ नहीं टिक सकूँगी। अपरिचित स्थान में, अपरिचित लोगों के बीच रहना कष्ट प्रद हो जाता है। तब अपने घर और अपने प्रिय जनों के लिये एक तीव्र लालसा मन में उत्पन्न होने लगती है। कुछ दिनों

तक मुझे यहाँ बड़ा बुरा लगा । पर अब मैं सभी से परिचित हो गई हूँ । कुछ से मेरा स्नेह सम्बन्ध भी हो गया है । पुरुष-समाज में जो एक विषमता रहती है वह नारी-समाज में विद्यमान नहीं है । यहाँ उच्च-नीच का उतना भेद नहीं होता । इसीलिये पुरुषों के परिचय में शिष्टाचार की कृत्रिमता रहती है । सभी स्थितियों में एक मिथ्या गौरव का भाव रहता है । इसीसे परस्पर बातचीत कर वे एक दूसरे के समीप नहीं पहुँच पाते । पर स्त्रियों में यह बात नहीं रहती । उनके क्षणिक परिचय में भी स्नेह का सच्चा भाव रहता है । उनके स्नेह-बन्धन में अविश्वास या संशय नहीं रहता । इसीसे नारी-समाज में विशुद्ध स्नेह का वातावरण रहता है । अपने से बड़ों के प्रति स्नेह और श्रद्धा रख कर तथा छोटे के प्रति स्नेह की सहिष्णुता प्रदर्शित कर जो एक परिचय हो जाता है उससे ममत्व के साथ स्नेह का अधिकार भी आ जाता है । इसी अधिकार के कारण हम लोगों में सेवा और सहानुभूति का भाव आ जाता है । अवसर पड़ने पर कोई भी स्त्री मुझे आकर सहायता दे देती है । इसीसे यहाँ मैं एक सुखमय शान्ति का अनुभव कर रही हूँ । जीवन में एक स्थिरता सी आ गई है । मैं चाहती हूँ कि तुम भी एक बार यहाँ आओ । तुम्हारे ठहरने के लिये मैंने यहाँ एक मंदिर में प्रबन्ध कर दिया है ।

(२)

मुझे तुम्हारी चिट्ठी मिली । पढ़ कर जरा भी आश्चर्य नहीं हुआ । यह बात नहीं है कि मन की बात मन में छिपा रखने से

वह बिल्कुल छिपी रहती है। कभी न कभी मन का अंतर्गत भाव दूसरों को लक्षित ही हो जाता है। इसलिये मैं तुम्हारे मनो-भावों से सर्वथा अपरिचित नहीं थी। यह जान कर प्रसन्नता हुई कि तुम यहाँ आ रहे हो। स्कूल के जीवन में वैचित्र्य तो रहता नहीं फिर भी जीवन नीरस नहीं हो पाता। बालिकाओं के जीवन में सरलता के साथ जो एक चंचलता रहती है उसके कारण उनके बीच में रह कर मैं भी अपने जीवन में एक सरलता और चंचलता का अनुभव करती हूँ। उन्हीं के साथ मैं भी हँसती खेलती रहती हूँ। दिन भर काम में व्यस्त रह कर भी मैं क्लान्ति का अनुभव नहीं करती। थकावट तो मुझे तब मालूम होती है जब मैं अपने बिस्तर पर लेटती हूँ। उस समय मन में कितने ही विचार आप से आप उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये मेरी इच्छाओं का भी अन्त नहीं है। यह सच है कि आज कल मेरी महत्त्वाकांक्षा खूब बढ़ गई है। साहित्य और शिक्षा दोनों के क्षेत्र में मैं कुछ अच्छा काम चाहती हूँ। उन्नति का द्वार मेरे लिये खुल चुका है। फिर भी कभी कभी मन में अन्य कितनी तरह की बातें भी आती रहती हैं। अपने अतीत जीवन की भी कुछ बातें याद आती हैं। तब मैं एक शून्यता का अनुभव करती हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि गौरव की इस इच्छा और प्रयास में मैं कुछ खोती भी जा रही हूँ। पर ये सब भाव रात में ही उत्पन्न होते हैं। प्रातःकाल होते ही रात की वे बातें न जाने कहाँ छिप जाती हैं।

कल मैं अपनी एक नवविवाहिता प्रिय सखी के घर बैठने गई थी। वहाँ पड़ोस की अन्य स्त्रियाँ भी आई थीं। उनमें से एक ने मुझसे पूछा कि अब तुम्हारा विवाह कब होगा ? मैंने कहा—मैं तो विवाह ही नहीं करूँगी। उन्हें मेरी बात सुनकर बड़ा अचरज लगा। दूसरी ने पूछा—क्यों ? मैंने कहा—मैं विवाह कर लूँगी तो तुम्हारी इन बन्धियों को शिक्षा कौन देगा ? तब तो शिक्षा का काम ही बन्द हो जायगा। मेरी इस बात पर सब हँसने लगीं। पर इसमें सन्देह नहीं कि सभी हिन्दू स्त्रियाँ विवाह में ही अपने जीवन की सार्थकता समझती हैं। यह बिलकुल सच है कि संसार के सुखों में लिप्त रह कर, उसके सभी प्रलोभनों के बीच स्थित होकर, कभी न कभी मनुष्य अपने हृदय में उनकी असारता का अनुभव करता है। स्नेह के वातावरण में भी उसे एक शून्यता सी प्रतीत होती है। किसी वस्तु का अभाव न होने पर भी उसके मन में एक अतृप्ति बनी रहती है। संसार के सभी कामों में व्यस्त रह कर भी उसे ऐसा मालूम हाता है कि उन्हीं में उसके जीवन की सार्थकता नहीं है। उसे कुछ और करना चाहिए जिसे वह भूल रही है। यह ठीक है कि हृदय की यह स्थिति क्षणिक होती है। संसारिक सुखों का आकर्षण इतना प्रबल होता है कि हम उनमें शीघ्र ही लीन हो जाती हैं। वर्तमान जीवन हमें इतना उलझा रखता है कि उससे अलग होकर सोचने का भी कम अवसर मिलता है फिर भी एक रहस्यमय अज्ञात लालसा क्षण भर उदित होकर हमें अन्य मनस्क कर देती है। तुम शायद मेरी

इस स्थिति को समझ नहीं सकोगे । यह भी संभव है कि मेरी इन बातों को पढ़कर तुम हंसोगे किन्तु मैं अपने हृदय में एक विचित्र स्थिति का अनुभव कर रही हूँ । जब तुम आओगे तब तुमसे और बातें कहूँगी । सभी बातें लिखी भी तो नहीं जा सकती ।

(३)

आज मैं क्षुब्ध होकर तुम्हें यह पत्र लिख रही हूँ । आज एक ऐसी बात हो गई जिससे घर में खूब बखेड़ा हो गया । कौन बात अच्छी है और कौन बात बुरी है इसका निर्णय सभी अपने अपने मन के अनुसार करते हैं । जिनके पास किसी प्रकार की अधिक शक्ति है वे यही समझते हैं कि जो कुछ वे कहते हैं वही ठीक है । उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई भी बात होने से वे क्रुद्ध हो जाते हैं । सभी गुरुजन यह चाहते हैं कि हम चुपचाप उनके आज्ञापालन में रत रहें । यह मैं भी जानती हूँ कि हमारे गुरुजनों का हमसे अधिक ज्ञान है और अनुभव भी है । किन्तु जीवन में सभी समय ज्ञान की गुरुता को लेकर काम नहीं किया जाता । जिन छोटी छोटी बातों में हम लोगों को सच्चा आनन्द आता है उनमें न ज्ञान रहता है और न धर्म । पर उन्हीं में जीवन का सच्चा रस रहता है । आज कल उन्हीं छोटी बातों को लेकर मेरे घर में अशांति का एक वातावरण छा गया है । यह भी क्या कोई जीवन है । न शांति है और न सुख । ढोर की तरह दिन भर काम करने के बाद जब मैं घर लौटती हूँ तब मुझे स्नेह का आश्रय भी नहीं मिलता, कोई सान्त्वना भी नहीं मिलती । सभी समय

(२२५)

आदेश और निर्देश पाकर मैं तो त्रस्त हो गई हूँ । जिनसे मैं स्नेह और सहानुभूति की आशा रखती हूँ, वही जन मेरे प्रतिकूल हो जाते हैं तब किनके लिये मैं जीवन का यह दुर्भर भार उठाऊँ । ऐसी इच्छा होती है कि सब कुछ छोड़कर कहीं चल दूँ । मुझे तो अपने जीवन से विरक्ति सी हो गई है कब क्या कर बैटूँ यह मैं कुछ नहीं सोच पाती !

(४)

घर में अब झंझट बढ़ती जा रही है । अब मेरे व्यवहार से मास्टर कभी कभी मुझ से बहुत चिढ़ जाते हैं । दो एक बार उन्होंने बिल्कुल स्पष्ट कहा कि वे मुझे यहाँ अकेली छोड़ जावेंगे । मेरे साथ रहना वे तभी पसंद करेंगे जब मैं ठीक उनके मन के अनुकूल सभी काम करूँगी । मुश्किल यह है कि उनका यह शासन मेरे कामों में सचमुच बाधा डालता है । बार बार उनकी वही एक बात सुनकर मुझे भी क्रोध हो आता है मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उन्हें मुझ पर अब सन्देह होने लगा है । यही बात मेरे लिये असह्य है । मैं अब छोटी लड़की नहीं हूँ, मुझे भी भलाई बुराई का कुछ ज्ञान है । संसार का विशेष ज्ञान न होने पर भी मैं उससे सर्वथा अनभिज्ञ नहीं हूँ । पर नारी जाति के सम्बन्ध में पुरुष-मात्र की अच्छी धारणा ही नहीं है । सभी लोग हम लोगों को खिलौना बना कर रखना चाहते हैं जैसे हमारी अपनी कोई इच्छा ही नहीं है । गुरुजन का शासन ही मानों हमें सत्पथ पर रख सकता है । मानो स्वभावतः हम विपथगामिनी ही हैं। इसी से जब वे मेरे चरित्र

पर संदेहकर मुझे दूसरे ढंग से कोई बात सुनाते हैं तब मैं भी क्रुद्ध हो जाती हूँ। काम में लग जाने के बाद अगर मैं दस लोगों से न मिलूँ तो मेरा काम ही कैसा चलेगा। मुझे दौरे में जाना पड़ता है। एक जगह से दूसरी जगह घूमना पड़ता है। सभी तरह के लोगों से मिलना पड़ता है। अब इसे यदि कोई स्वच्छंदता या उच्छृंखलता मानकर मुझे इधर उधर की बातें कहे तो मैं अब उन्हें सह नहीं सकती। आज जीजी को यादकर मैं खूब रोती रही। मुझ पर उन्हीं की सच्ची ममता थी। वही मुझे ठीक ढंग से समझती थी और समझाती थी। यह सच है कि जीजी की सी सहिष्णुता मुझमें नहीं है। उनके प्रति भी मास्टर का यही व्यवहार था परन्तु उनमें काफी धैर्य था, काफी संयम था, और काफी सहनशीलता थी। उन्होंने मास्टर की सभी बातें सह लीं। न जाने अपने हृदय में कौन भाव लेकर वे परलोक चली गईं परन्तु मुझे तो अपना यह जीवन अब असह्य होता जा रहा है। मेरे मन की अवस्था को तुम शायद ठीक समझ भी नहीं सकोगे। पर यह बिलकुल सच है कि मैं बिलकुल निराश हो गई हूँ मुझमें अब न उत्साह है और न उमंग।

(५)

तुम्हारा पत्र मिला। मेरे प्रति तुम्हारे क्या भाव हैं, यह मैं अच्छी तरह समझ चुकी हूँ। तुमसे मुझे अनिष्ट की कोई आशंका कभी नहीं हुई। मैं इतना अवश्य समझती हूँ कि मेरे प्रतिकूल तुम भी कोई काम नहीं करोगे। यदि मुझे तुम्हारे भाव पर विश्वास न रहता तो मैं तुम पर इतना निर्भर भी न रहती। तुम तो जानते

हो कि मास्टर को भी जब मुझसे कोई काम कराना होता था तब वे तुम्हीं को कहते थे तुम्हारी बात मैं टालती नहीं हूँ, यह बात मास्टर भी जानते हैं। वे कई बार तुमसे मेरी शिकायत भी कर चुके हैं। वे जानते हैं कि मैंने तुम्हारा आधिपत्य स्वीकार कर लिया है। जब खौंसी बढ़ जाने से मैंने तुमको तार देकर बुलवाया तब मैंने नाराज हुए। उन्होंने कहा कि तुम्ही यहाँ आकर क्या कर लोगे। पर मास्टर ने मेरी बात मान ली। तुम्हारे आने के बाद मैं सचमुच चार ही दिनों में अच्छी हो गई। इसी बात पर तुम्हारे चले जाने के बाद भाभी ने दिल्ली में कहा कि तुम कुछ जादू या मंत्र जानते हो। तभी तो जो बात डाक्टर से पंद्रह दिन में नहीं हुई वह दो ही दिन में हो गई। इसमें संदेह नहीं कि विश्वास की दृढ़ता से मन में एक दृढ़ता आ जाती है। तुम्हारे पत्र से भी मुझे लाभ हुआ। तुम्हारा पत्र पाकर मास्टर मेरे पास आये। उन्होंने बड़े प्रेम से मुझे कितनी ही बातें समझाई। कहते कहते उनका कंठ भर आया। मैं राने लगा। आँसुओं ने मेरे मन के मैल को बिलकुल धो दिया। अब मैं खूब प्रसन्न हूँ। सोचती हूँ कि जो कुछ होता है वह अच्छे के लिये हो जाता है। तुम इतनी दूर तो आ नहीं सकोगे। इसलिये मैं सोच रही हूँ कि मैं ही आऊँ। पहाड़ यदि मुहम्मद के पास नहीं आ सकता तो मुहम्मद को ही पहाड़ के पास जाना चाहिये।

मेरे लिये संसार सचमुच रहस्यमय हो रहा है। संसार के

कर्म क्षेत्र में प्रविष्ट होते ही छात्र जीवन का मधुर स्वप्न आप ही आप विलुप्त हो जाता है। फिर भी महत्वाकांक्षा से हम लोगों को सच्ची प्रेरणा मिलती है किसी प्रकार की हीनता या दीनता हमें असह्य होती है। उच्च वर्ग के लोग जिस समृद्धि उपभोग अनायास करते रहते हैं उसमें हम गौरव नहीं देखते। उसी प्रकार दीनों की अक्षमता में पुरुषार्थ की हीनता लक्षित रहती है। मनुष्यों के दुख, कष्ट और प्रयास को देखकर मैं सचमुच यह नहीं समझ पाती कि किन कारणों से विवश होकर मनुष्यों को ऐसी स्थितियों में रहना पड़ता है। कहा जाता है कि हम लोगों के जीवन में कोई अदृश्य शक्ति काम करती है। उसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से हम लोगों का जीवन एक विशेष दिशा में प्रवर्तित होता है। हम लोग एक दूसरे से जो मिलते और अलग हो जाते हैं उसमें भी उसी का प्रभाव है। यह केवल संयोग की बात नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी के जीवन में सहसा आ जाता है, जिसके कारण हम लोगों का जीवन बिलकुल परिवर्तित हो जाता है। यह तो सच है कि हम प्रतिदिन कितने ही लोगों से मिलते रहते हैं पर किसी एक से ही हम लोगों का जीवन कुछ ऐसा सम्बद्ध हो जाता है कि उसके कारण हम लोगों को कितने ही सुख और दुख होते हैं। फिर भी मैं यह मानती हूँ कि हम सभी अपने अपने भाग्य के विधाता हैं। जो सुअवसर या विघ्न हमारे जीवन में आते हैं उन्हीं से हमारे जीवन की सच्ची परीक्षा होती है। इसी से मैं सभी स्थितियों में निर्द्वंद्व रहती हूँ। यहां भी

मुझे कितने ही लोग मिले हैं। उनके कारण मुझे विशेष चिंता हुई है और मैं उद्विग्न भी हुई हूँ। फिर भी मैं यह समझती हूँ कि मैं स्वयं स्थिति के अनुकूल सब कुछ कर सकती हूँ मुझे न भय है, न आशंका।

(७)

तुम्हारा पत्र पाकर कुछ आश्चर्य हुआ मुझे ऐसा जान पड़ता है कि तुम मुझे अपने से बिल्कुल ही अलग समझते हो। इसीलिए तुम्हारी बातों में मुझे वह भाव नहीं मिलता जिसकी आशा मैं करती हूँ। तुम तो यह जानते ही हो कि किसके बल पर मैं यहाँ खड़ी हूँ मैंने तुमसे अभी तक कोई भी बात नहीं छिपाई। अच्छी या बुरी, सभी बातें मैंने तुमको स्पष्ट कह दी पर तुम अपने मन में मेरे प्रति एक अविश्वास का सा भाव रखते हो। मैं यह नहीं कहती कि तुम मेरी परवाह नहीं करते। तुम मुझे विशेष आदर अवश्य देते हो। मेरी सभी इच्छाओं के अनुसार काम करने के लिये भी तुम उद्यत रहते हो। पर मैं तुमसे न आदर चाहती हूँ और न सेवा, सभी लोगों से किसी न किसी प्रकार से स्वार्थ का संघर्ष होने के कारण विरोध हो गया है। ऐसी स्थिति में तुम्हीं एक ऐसे हो जिस पर मैं आश्रित हो सकती हूँ। तुम मेरे लिये सदैव वही एक बनें रहे। मुझे रक्षा या कृपा नहीं चाहिये। मुझे गौरव का उपदेश नहीं चाहिये। मैं प्रभुत्व का निर्देश भी नहीं चाहती। मैं तो चाहती हूँ सच्चे स्नेह की सभी सहानुभूति।

(२३०)

(८)

कमला का विवाह निश्चित हो गया । लेडी डाक्टर का विवाह एक डाक्टर से होना ठीक ही है । तभी उनको अपनी जीवन यात्रा में किसी तरह की असुविधा नहीं होगी । पर विवाह क्या एक सुविधा मात्र है । क्या हम लोग विवाह के बंधन को इसीलिये स्वीकार करती हैं कि जीवन में हम लोगों को अड़चन नहीं, जीवन निर्वाह में किसी तरह की कठिनाई नहीं । पुरुष नारी की सेवा चाहता है और नारी पुरुष का संरक्षण । एक के पास शक्ति है और दूसरे के पास प्रेम । यही क्या जीवन रथ के दो चक्के हैं । मैं यह मानती हूँ कि परिवार में स्नेह की एक सुखद छाया रहती है, पर उस सुखद छाया में यदि कहीं अशांति की ज्वाला भभक उठती है तब उसे दूर करने का कोई उपाय नहीं रह जाता । तब वह बंधन भी असह्य हो जाता है । जानबूझ कर हम लोग जो यह बंधन स्वीकार कर लेती है उसके मूल में क्या सचमुच विशुद्ध प्रेम की भावना काम करती है । क्या परिवार में स्वार्थों का संघर्ष नहीं होता । जीवन में क्या स्नेह का भी लेन देन ही होता है, जिसमें सदैव लाभ-हानि का विचार किया जाता है । मैं अभी तक यह बात नहीं समझ सकी हूँ । मन में एक शंका भी हो रही है । पर अभी तो जा रही हूँ । लौटने के बाद तुम्हें कुछ और बातें लिखूंगी ।

(९)

मैं जानती हूँ, कि जाने के समय मैं तुमसे जो नहीं मिल

सकी उससे तुम्हें कुछ बुरा अवश्य लगा होगा। जाते समय मैं ने जो तुमसे बातचीत की वह मैं सुन रही थी। मैं सोई नहीं थी। मैं यह भी समझती थी तुम भी जानते हो कि मैं सोई नहीं हूँ, जाग रही हूँ। फिर भी मैं तुमसे मिलने के लिये नहीं आ सकी और न तुमने ही उसकी कोई जरूरत समझी। पहले जो बात सम्भव नहीं थी वह अब साधारण हो गई। तुम चुपचाप उठकर चले गये। गाड़ी आई और छूटी। मैं तब तक जाग रही थी और उसके बाद भी बड़ी देर तक जागती रही। तुमने अपने मन में क्या सोचा होगा उसे तो तुम जानो, पर मैं यदि अपने मन की बात लिखने बैठूँ तो तुम शायद विश्वास भी नहीं करोगे। मुझे मन में एक संताप सा हो रहा था। जो बात एक बार हो जाती है उसे कोई भी नहीं भूल सकता। जितना ही अधिक उसे भूलने की कोशिश करो उतनी ही अधिक वह बात याद आती है। ३१ दिसम्बर की रात को न तुम भूल सकते हो और न मैं भूल सकती हूँ। आज भी वही बात रह रह कर याद आती है। मैंने तुममें गुरु का गौरव देखा, बंधु का बंधुत्व पाया, सहचर का साहचर्य उपलब्ध किया और प्रियजन का सच्चा स्नेह भी प्राप्त किया। तुमसे कोई भी बात कहने में मुझे संकोच नहीं हुआ इसी से तुमसे पृथक होकर भी मैं अपने को तुमसे पृथक नहीं मानती। भविष्य में जो हो, वर्तमान में असंतोष का विशेष कारण मैं नहीं देख रही हूँ।

(२३२)

(१०)

पाश्चात देशों में प्रेम का अन्त विवाह में होता है । हम लोगों के समाज में प्रेम का आरम्भ विवाह से होता है । पर जीवन की दौड़ में प्रेम का विशुद्ध भाव नहीं रह जाता । स्वार्थों की एकता ही स्त्री पुरुष को एक सूत्र में बांध रखती है । कर्त्तव्य-ज्ञान से वह सूत्र टूट हो जाता है । इसी से जीवन में भी स्थिरता आ जाती है । पर प्रेम की कामना में जब तक अतृप्ति बनी रहती है तभी तक उसमें वेग रहता है । किसी के प्रति यदि हममें सच्चा प्रेम है तो उसमें तृप्ति का अभाव ही रहेगा । उसके लिए सदैव कामना बनी ही रहेगी । तभी तो प्रेम चिर-तन बना रहता है । वैवाहिक जीवन में तृप्ति के साथ संतोष आते ही प्रेम की भावना नहीं रह जाती है । सेवा और त्याग होने पर भी मन में एक विरक्ति आ जाती है । यदि सचमुच कोई किसी के प्रति प्रेम रखता है तो सदैव उसके लिए उसमें तीव्र चाह होनी चाहिये । इसी से मैं जानना चाहती हूँ कि क्या सचमुच कोई किसी को सिर्फ उसी के लिये प्यार कर सकता है या नहीं । कहने के लिये तो यह कहा जाता है कि प्रेम की भावना में एक आत्मिक आकर्षण होता है वह शरीर और मन दोनों के बाहर होता है पर मैंने तो किसी के जीवन में ऐसा आकर्षण नहीं पाया है, जिसमें स्वार्थ का कोई भाव नहीं, जिसमें अन्य किसी बात की आकांक्षा नहीं, जिसमें कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की चिंता न हो और जिसमें विशुद्ध आनंद का भाव हो । समाज की रचना जिस भाव पर निर्भर है उसमें

भी ऐसा कोई विशुद्ध भाव काम नहीं करते । उसमें भी जीवन में एक समझौता करना पड़ता है । नीति की जो मर्यादा स्थापित की गई है और धर्म का जो बंधन बनाया गया है उसका, मुख्य कारण यह है कि प्रेम के लेन देन में कहीं हम लोग कपट का आश्रय न लें । मुझे ऐसा जान पड़ता है कि हम लोग धर्म और समाज के भी बंधनों को एक मिथ्याभाव से प्रेरित होकर स्वीकार करते हैं । सच तो यह है कि मन में कुछ रहता है, बात हम कुछ दूसरी करते हैं और काम का ढंग कुछ और हो जाता है । सुख का जो स्वप्न हम लोग अपने जीवन के प्रारंभ काल में देखते हैं वह अंत में बिल्कुल असार सिद्ध होता है । सभी कुछ मिथ्या मालूम होने लगता है । समय के साथ भावों में परिवर्तन हो जाता है । मैंने देखा है कि जिन लोगों में पहले प्रेम का हृद भाव था उन्हीं में वह प्रेम कुछ दिनों के बाद विरक्ति और उपेक्षा के भाव में परिणत हो गया । रूप का आकर्षण, गौरव की आकांक्षा, सुख की लालसा, प्रतिष्ठा का मोह सभी कुछ आपसे आप नष्ट हो गये । हमारी वासना या कामना या लालसा, किसी में भी स्थिरता नहीं रहती । सभी में एक क्षणिकता रहती है । पर एक ही क्षण के लिये हम जो सब कुछ देने को तैयार हो जाते हैं । वह क्या आश्चर्य की बात नहीं है ।

(११)

मेरा मोह भंग हो गया । मैंने जो सोचा था वह सच नहीं हुआ । यह अच्छा ही हुआ । जो मोह है उसका भंग होना ही

अच्छा है, जो स्वप्न है वह किसी समय नष्ट होता ही है। मेरा स्वप्न शीघ्र ही नष्ट हो गया यह कुछ बुरा नहीं है। दिन में स्वप्नों की बात लेकर-बैठे रहने से जीवन का काम ही नहीं चलता। जो हो गया वह हो गया। फिर भी यह बात मेरी शक्ति के बाहर है कि मैं अतीत को बिलकुल अतीत समझ लूँ। जो मैं पा चुकी हूँ उसे छोड़ नहीं सकती। मैं कलकत्ता जाना चाहती हूँ। तुम्हें जो दिन सुभीते का हो लिख भेजना। उसी के अनुसार मैं अपना दिन निश्चित करूँगी।

(१२)

हम लोगों के लिये सभी दिन एक तरह के होते हैं। हम लोगों के जीवन में कोई विलक्षणता नहीं है वही चिंता, वही प्रयास, वही कष्ट, वही बातें तो होती रहती हैं। हम लोगों के जीवन की सीमा जितनी क्षुद्र होती है उतना ही क्षुद्र हम लोगों का कार्य क्षेत्र भी होता है। प्रातः काल से लेकर दस बजे रात तक मैं अपने कार्य में लगी रहती हूँ। पर काम में कोई नवीनता नहीं रहती। फिर भी मैं उसी में इतनी लीन हो जाती हूँ कि मुझे किसी अन्य बात की चिंता नहीं रहती। मैंने देखा है कि जब कभी मुझे किसी से सच्चा सद्भाव या स्नेह या सहानुभूति की प्राप्ति हुई है तब मुझमें एक नवीन स्फूर्ति सी आ गई है। यदि दीप के लिये स्नेह की आवश्यकता है तो हम लोगों के जीवन में भी ज्योति को प्रज्वलित करने के लिये स्नेह की आवश्यकता होती है, कुटुम्ब, परिवार, समाज और देश भी रचना स्नेह के संबंध से

ही होती है । परन्तु जो विशुद्ध स्नेह होता है, उसमें किसी स्वार्थ का बंधन नहीं रहता । विद्या, धन, गौरव, स्थिति किसी की भी वह उपेक्षा नहीं करता है । जो ऐसा विशुद्ध स्नेह पा लेता है उसी के जीवन में स्नेह की सच्ची ज्योति आ जाती है । विशुद्ध स्नेह त्याग पर आश्रित है । ये दोनों दुर्लभ हैं । जो यह समझते हैं कि स्नेह में भी लेन देन हो सकता है वह मानों स्नेह का व्यवसाय करते हैं । व्यवसाय में तो यही चेष्टा की जाती है कि कम से कम के द्वारा अधिक से अधिक लाभ हो । स्नेह में त्याग का जो भाव काम करता है उसमें अधिक से अधिक देकर कम से कम पाने में संतोष हो जाता है । कोई निरंतर देता जाता है, क्योंकि उसे देने में ही सुख होता है । कोई निरंतर लेता जाता है, क्योंकि उसे लेने में ही सुख होता है । स्नेह के द्वारा जैसे लेने का अधिकार आता है वैसे ही देने का अधिकार हो जाता है ।

(१३)

मैंने अब अलग घर ले लिया है और उसमें तुम्हारे लिये एक कमरा पहले से ही निश्चित कर रक्खा है । मकान ठीक गंगा जी के किनारे है । एक खिड़की खोल देने से गंगा जी का सुंदर दृश्य दिखाई देता है । वहाँ तुम्हारा एकांत जीवन भंग करने के लिये कोई नहीं आ सकेगा । वहाँ बैठकर तुम यथेष्ट चिंतन, मनन और पठन-पाठन कर सकते हो । मैं भी देखना चाहती हूँ कि एकांत में रहकर तुम केवल आलस्यमय जीवन व्यतीत करते हो या सचमुच तुम्हारी रचना शक्ति का कुछ स्फुरण होता है ।

(२३६)

(१४)

तुम्हारा पत्र पाकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ । मैं तुम्हारी मानसिक स्थिति अच्छी तरह नहीं समझ सकी । तुम मुझे सलाह दे सकते हो और आदेश और निर्देश भी । पर मैं तो तुम्हें किसी तरह समझा नहीं सकती । समझाने पर तुम मानोगे भी नहीं । तुम जो राह ठीक समझते हो उसी पर तुम चलोगे । सभी पुरुषों में यह दम्भ रहता है वे कभी विपथगामी हो नहीं सकते । कठिनता तो केवल स्त्रियों को है । एक बार कोई पथ स्वीकार कर लेने पर फिर उन्हें आजीवन उसी एक पथ पर चलना पड़ता है ।

(१५)

यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि तुम कहानी पत्रिका के संचालक या सम्पादक हो गये हो । जान पड़ता है कि लोगों ने तुम्हारी यह योग्यता समझ ली कि झूठी बात गढ़ने में तुम कितने सिद्ध हस्त हो । मुझे भी जब झूठी बातें गढ़कर किसी का मन बहलाना होगा तब मैं भी तुम्हारे पास कहानी लिखकर भेजूँगी ।

(१६)

मैं जानती हूँ कि तुम्हें मेरे संबंध में अब शायद चिंता न होती होगी । पर मेरे लिये तुम्हें चिंता हो या नहीं मैं तो तुम्हारे संबंध में प्रति दिन सोचती रहती हूँ । मेरे यथार्थ जगत से अब तुम बिल्कुल हट गये हो । पर कल्पना में मैंने अपनी ओर से तुम्हारी जो एक मूर्ति बना ली है उस पर न तो काल का कोई प्रभाव पड़ सकता है और न परिस्थिति का । यथार्थ जगत में

तुम्हारे और मेरे बीच में भले ही व्यवधान हो पर कल्पना जगत में तुम मेरे बिलकुल समीप हो जाते हो। सच्ची बात तो यह है कि जब मैं बिलकुल अकेली रहती हूँ तभी मैं तुम्हारे सामीप्य का अनुभव करती हूँ। किसी कवि ने सच कहा है— तुम मेरे पास होते हो गोया, जब कोई दूसरा पास नहीं होता। १९१८ से लेकर १९३७ तक मेरे जीवन में जिस एक भाव ने काम किया है वह मेरे लिये स्पृहणीय बना ही रहेगा। सच तो यह है कि उसी के कारण मेरे जीवन में एक चेतना सी आ गई। कल्पना से भावुकता आती है और भाव की अधिकता से कल्पना गतिशील हो जाती है। वह जिन सपनों की रचना करती है उनमें एक मधुरता रहती है। संयोग और वियोग, आशा और निराशा, सब से वह एक अलौकिक रस की सृष्टि कर लेती है। भाव के उन्माद से हम लोग संसार की यथार्थता को भूल जाते हैं। यथार्थ जगत में जो कटुता रहती है, उसमें जो कठोर आघात होता है, उसके कारण निंदा, अपयश, अपमान, कष्ट आदि का जो अनुभव करना पड़ता है उस पर भी कल्पना एक मधुर प्रलेप लगाकर हमें आत्मविस्मृत कर देती है। अभी तक सब कुछ हो जाने पर भी कल्पना शिथिल नहीं हुई है। भविष्य भले ही अंधकारमय हो, और वर्तमान कष्टप्रद हो कल्पना अतीत के ही चित्रों को एक सुखद रूप देकर हृदय में एक मधुर व्यथा ले आती है। हम अतीत का स्मरण कर एक गूढ़ मर्मव्यथा से जो दीर्घ निश्वास लेते हैं उससे एक करुण रस की रचना हो जाती है। तभी तो मैं किसी

(२३८)

न किसी रूप में किसी न किसी ढंग से अतीत की बात सोच लेती हूँ। अब क्या किसी से मुझको प्रेरणा मिल सकेगी ? अब क्या किसी से मेरी कल्पना गतिशील हो सकेगी ? अब क्या किसी की चिंता जीवन में मधुरिमा ला सकेगी ?

(१७)

मैंने सब कुछ देख लिया अब अधिक देखने की इच्छा भी नहीं है। परिचित हो या अपरिचित स्नेह ही किसी को हमारे समीप ले आता है और स्नेह का अभाव ही किसी से हमको दूर कर देता है। जिनसे मेरा स्नेह संबंध स्थापित हुआ उनको अपनाने के लिये मैंने यथेष्ट प्रयत्न किया फिर भी सभी मुझसे अलग हो गये। केवल वही अभी तक मेरे साथ में हैं जिनके कारण मेरा यह छोटा परिवार बना हुआ है। यह बात नहीं है कि हम लोगों के परिवार में संघर्ष नहीं होता पर चाहे संघर्ष हो या क्रोध हो या विद्वेष हो, उससे परिवार का स्नेह सूत्र टूट नहीं सकता वह मानों ईश्वर निर्मित है। पर जो स्नेह सूत्र मनुष्य द्वारा निर्मित होता है, वह बड़ा क्षण भंगुर होता है। स्नेह, ममता, प्रेम, त्याग, सेवा आदि के द्वारा कितने ही वर्षों के बाद अनुराग की जो विशाल अट्टालिका निर्मित होती है उसे भी काल का एक आघात क्षणभर में ढा देता है। स्वार्थ का एक झोंका मैत्री के विशाल भवन को नष्ट कर देता है।

(१८)

मैं तुमको नव वर्ष के आगमन में कौन सी शुभकामना भेजँ।

तुम्हें तो शुभकामना चाहिये ही नहीं। मैं अभी वेटिंग रूम में बैठी हुई हूँ। तुम्हारी ही पत्रिका के ऊपर यह कार्ड रखकर लिख रही हूँ। मेरे पास एक जमींदार की लड़की बैठी है। वह ससुराल जा रही है। उपन्यासों की ओर उसका बड़ा अनुराग है। होना ही चाहिये। इसी अवस्था में तो कल्पना के माया लोक में हम सभी विचरण करना चाहते हैं। मोह की यह अवस्था क्षणिक अवश्य होती है। तो भी वह जब तक रहती है तब तक एक अनिर्वचनीय सुख में हम सबको लीन कर देती है। उसमें आत्मविस्मृति तक आ जाती है। यथार्थ जगत में प्रेम का यह उन्माद लुप्त हो जाने पर भी उसकी स्मृति में एक मधुरता रहती है। प्रेम के लिए जीवन में जो एक अतृप्ति रहती है उसी के लिए उपन्यास में प्रेम की निरंतर गाथा—रहती है। यहाँ एक विधवा भी बैठी हुई है उसे भगवान् ने सौंदर्य दिया है। किन्तु उसका सौभाग्य हर लिया है। उससे सुख दुख की कितनी ही बातें हो चुकी हैं। मेरी सखी की लड़की की शादी एक राज-परिवार में हुई है। दस दिसम्बर को विदा हुई है। मुझे निमंत्रण आया था पर मैं जा न सकी मैं भी अपने आर्टिस्ट भतीजे के लिये एक आर्टिस्ट मैच की तलाश में हूँ। उसने यह काम मुझे सौंपा है। जात पात का कोई विचार नहीं। क्या इसके लिये विज्ञापन दिया जाय। विज्ञापन का तो यह युग ही है। उसके द्वारा लेन देन में यथेष्ट सुविधायें हो गई हैं। विवाह भी तो एक तरह से लेन देन है। फिर चाहे उसका संबंध हृदय के प्रेम से

(२४०)

हो या घर की सम्पत्ति से । कहानी के लिये कृतज्ञ हूँ । पर मैं
मैं ही रहूँगी ।

(१९)

अभी तक मैं ममता के जिस भवन में आश्रय पाती रही हूँ
उसके स्नेह पूर्ण प्रदीप एक एक कर बुझते जा रहे हैं । मेरा वह
स्नेह सदन शून्य होता जा रहा है । पिता की मृत्यु २६ अक्टूबर
को हो गई २३ नवम्बर को भाभी भी परलोक चल बसी । महेश
पास हो गया और एक उच्च पद पर नियुक्त भी हो गया । ललिता
उसका विवाह किसी ऐसी लड़की से ठीक कर रही है जो सुनती
हूँ बी. ए. की परीक्षा में फेल हो गई है । शायद इसीसे वह जीवन
की परिक्षायें पास हो जावेगी । ललिता से तो छ साल से बोल
चाल तक नहीं है । सास और ससुर दोनों अब नहीं रहे । मेरा
संसार अब मुझी में बद्ध है । अब मुझे जीवन की चिंता भी नहीं
है । मालती के विवाह की चिंता अवश्य है । वह इतनी बढ़ गई
है कि १२ वर्ष की उम्र में भी वह १७ साल की सी दिखाई
देती है । विवाह के बाद उसी के हाथ में मैं बच्चे को सौंपकर
निश्चित हो जाऊँगी । फिर किसी भी दिन मृत्यु का निरंतरण आ
जाय । मैं तैयार रहूँगी ।

(२०)

क्या लिखूँ मुझ पर दैव का बड़ा निष्ठुर आघात हुआ है ।
एक दुर्घटना में पड़ कर मेरा पुत्र मुझको छोड़कर चल बसा ।
भगवान को मुझे यही भयानक दण्ड देना था ।

(२४१)

(२१)

तुम्हारा पत्र मिला अपने दुख से मैं अब किसी को क्यों दुःखित करूँ। कहा जाता है कि भगवान् न्याय करते हैं। पर यह उनका कैसा अन्याय है, मैं कुछ समझ नहीं पाती। मेरे लिये अवशिष्ट जीवन अब एक दीर्घ दुःख-मय काल है। मैं तो सदैव स्वार्थ की क्षुद्र सीमा में ही बद्ध रही हूँ। मेरा बच्चा ही मेरा एकमात्र लक्ष्य और उद्देश्य रहा है। वही मेरा सर्वस्व था। वही मेरा धर्म था। वही मेरा जीवन था। उसी की सेवा मेरे लिये देश सेवा और देश पूजा दोनों थी। आज अपने बच्चे को खोकर मैं सब कुछ खो बैठी हूँ। यह सच है कि देश भर में मारकाट हो रही है, हजारों माँ के लाल चले गये। पर मुझे अपनी वेदना के कारण और कुछ सूझ नहीं रहा है। फिर भी लड़की के कारण मुझे जीवित रहना ही पड़ेगा। किसी तरह दैव का यह प्रकोप सहकर अपना जीवन काटना ही होगा।

यवनिका पतन

रामदास ने कमरे की खिड़की खोल दी और अन्यन्मनस्क भाव से बाहर देखने लगा। ६५ वर्ष की अवस्था में रामदास को अभीष्ट-सिद्धि हुई। ३५ वर्ष के बाद वह अपने पूर्वजों के विशाल भवन में फिर लौटकर आया। सम्पत्ति के अभाव में जिसको उसने खो दिया था, उसको सम्पत्ति के प्रभाव से उसने फिर प्राप्त कर लिया। परन्तु उसकी अवस्था में कितना परिवर्तन हो गया था। पूर्वजों की उस विशाल, सुदृढ़ अट्टालिका पर काल का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। वह उग्रों की त्यों खड़ी है। पच्चीस वर्ष के भीतर उसमें जो जीर्णता या मलीनता आ गई थी, वह दो ही दिनों के प्रयत्न से दूर हो गई। पर रामदास के अल्प-जीवन में काल ने आघात किया है, उसे क्या वह अब दूर कर सकेगा ? उसके लिये तो अब यह अंतर्जगत भी परिवर्तित हो गया है। वही ग्राम है, वही नदी है, वही पहाड़ है और वही दिन भी है। पर अब वह स्वयं नहीं रहा जो वह पहले था। अभाव की उस अवस्था में भी उसमें जो था उसे वह अपनी इस समृद्धि की स्थिति में नहीं पा सकता। जो चला गया, वह चला गया। जो खो गया, वह खो गया। जीवन में अब वह रस कहाँ, वह स्फूर्ति कहाँ, आनन्द की वह अनुभूति कहाँ। तब विपत्ति

प्रेरणा देती थी, अभाव उत्तेजित करता था, असंतोष महत्वाकांक्षा लाता था, कर्तव्य का भार गौरव देता था, उदाम इच्छा कर्मशक्ति को उद्दीप्त करती थी। बाधाओं को पराभूत करने से उसे उल्लास होता था। तब उसमें अनुराग की लालिमा थी, शक्ति का गर्व था, पौरुष का अभिमान था, लालसा की अतृप्ति थी। तब वह सभी को स्वायत्त कर लेना चाहता था। उसमें विश्वास की दृढ़ता थी। विफल होने पर उसके प्रयत्न और अधिक तीव्र हो जाते थे।

पच्चीस वर्ष के भीतर उसे संसार की यथार्थता का अनुभव हुआ। हीनावस्था में ही हमें जीवन संघर्ष का ज्ञान होता है। तरुणावस्था को ऐश्वर्य के विलास में व्यतीत कर प्रौढ़ावस्था में उसे कर्म-क्षेत्र में प्रविष्ट होना पड़ा। तब उसे ज्ञान हुआ कि संसार में जहाँ गौरव है, वहाँ लुप्तता भी है; जहाँ ऐश्वर्य है, वहाँ दैन्य भी है; जहाँ क्षमता है, वहाँ अक्षमता भी है। प्रकृति में वैचित्र्य है, मानव समाज में विषमता है। उसने यह भी देखा कि मनुष्य परिस्थिति का खिलौना है। किसी विशेष परिस्थिति में कोई विशेष क्षमता सम्पन्न हो जाता है और कोई सर्वथा अक्षम हो जाता है। उसने अपने ही नहीं, अन्य कितने ही लोगों के जीवन में भी भाग्य-चक्र का उत्थान-पतन देखा। संसार में नीति की चाहे जो व्यवस्था हो, इसमें संदेह नहीं कि अधिकांश लोग कष्ट पाते हैं और कुछ विशिष्ट लोग ही सुखों का उपभोग करते हैं। सभी में एक-सी क्षमता नहीं होती, एक-सी बुद्धि नहीं होती, एक-सी योग्यता नहीं होती। पर सुख-दुख की अनुभूति

सभी में एक-सी होती है। बड़ों की तरह छोटे भी सुखों का अनुभव न करने पर भी दुःखों की तीव्रता का अनुभव करते हैं। यह अवश्य कहा जाता है कि हम लोगों में बुद्धि-स्वातंत्र्य है और कर्म-स्वातंत्र्य है। हम जो कुछ करते हैं, स्वेच्छा से करते हैं। पर संसार की कर्म-भूमि में न बुद्धि-स्वातंत्र्य काम देता है न कर्म-स्वातंत्र्य। परिस्थिति से विवश होकर हमें सभी काम करने पड़ते हैं। शक्ति जिस प्रकार दर्प लाती है, उसी प्रकार शक्ति का अभाव हीनता ला देता है, मनुष्य अपने जिस गौरव का गर्व करता है, वह केवल परिस्थिति का परिणाम है। विशेष परिस्थिति में पड़कर कितने ही क्षमताशाली, प्रतिभाशाली और शक्तिशाली व्यक्तियों का गौरव नष्ट हो जाता है। अधिकांश लोग साधारण व्यक्ति होते हैं। उनमें न शक्ति की असाधारणता है और न बुद्धि की विलक्षणता। ऐसे लोगों में गौरव की कामना भी नहीं होती। कुछ विशिष्ट लोग ही असाधारण शक्ति-सम्पन्न होते हैं। वही यश और अपयश के पात्र होते हैं, वही उपकार या अपकार करते हैं, वही शासक होते हैं और अन्य शासित।

रामदास ने एक दीर्घ निःश्वास लिया और फिर आकाश की ओर दृष्टिपात किया।

सूर्यास्त हो रहा था। अपने जीवन में सूर्यास्त का यह दृश्य वह कितने ही बार देख चुका था। प्रति दिन सूर्य अस्त होता है, पर प्रति दिन सूर्यास्त की शोभा में एक नवीनता ही रहती है। प्रकृति के सभी दृश्यों में एक चिर-नवीनता ही रहती है। उन दृश्यों का

जो प्रभाव हम लोगों पर पड़ता है उसमें भी विभिन्नता रहती है। कितना ही रमणीय दृश्य क्यों न हो, किसी विशेष भाव के वशीभूत होने पर हम लोगों के हृदय में प्रकृति का वह रमणीय दृश्य भी तदनुकूल-भाव से आच्छन्न हो जाता है। ६५ वर्ष की अवस्था में सूर्यास्त की शोभा में वह जीवन की वृद्धावस्था की झलक देखने लगा। सूर्य का अब वह प्रचण्ड प्रकाश नहीं था। उसकी दीप्ति में अब लालिमा रहने पर भी वह लालिमा तेज की हीनता प्रकट कर रही है। जो सूर्य पहले इतना तेजोमय था कि उसकी ओर दृष्टि निक्षेप करने का साहस किसी को नहीं हो सकता था, उसे अब हम अच्छी तरह देख सकते हैं। क्रमशः वह छिपने लगा। और कुछ ही क्षण में अदृश्य हो गया। विश्व में उसका कोई अस्तित्व नहीं रह गया। अस्त हो जाने पर भी कुछ समय तक आकाश-मण्डल में उसकी दीप्ति फैलती रही, पर धीरे-धीरे वह दीप्ति भी नष्ट होने लगी। कुछ देर में सारा संसार अंधकार-मय हो गया। चारों ओर निस्तब्धता छा गई। रामदास सोचने लगा—

यों ही हम लोगों की जीवन-ज्योति किसी अनन्त रहस्य-मय प्रदेश में विलीन हो जाती है। सूर्य की तरह वह भी तम से उदित होती है और फिर तम में ही विलीन हो जाती है। उसमें भी प्रभात का लावण्य रहता है, मध्याह्न की उग्रता रहती है, अपराह्न की स्निग्धता रहती है और फिर संध्या की क्षीण लालिमा को लेकर वह काल की तमिस्रा में छिप जाती है। जन्म और

मृत्यु का रहस्य सभी के लिये अज्ञात है । जैसे संसार में व्यक्तियों की सृष्टि होती है और संहार होता है वैसे ही अनंत ब्रह्माण्ड में विश्व की भी सृष्टि होती है और संहार होता है । अनादि-काल से सृष्टि और संहार का यह क्रम चलता आ रहा है । यह भगवान की एक लीला है, यह मनुष्यों की बुद्धि के लिये अनधिगम्य है । असीम और अनन्त ब्रह्माण्ड में हमारी इस पृथ्वी की ही क्या गणना है । उसके भी एक क्षुद्र कोने में जन्म लेकर और क्षुद्र जीवन व्यतीत कर हम अपने गौरव का अभिमान ही क्या कर सकते हैं ? परन्तु यह सच है कि भगवान भी यह अतर्क्य लीला हम लोगों के लिये लीला नहीं है । हम लोग अपने जीवन को सब कुछ समझ सकते हैं, पर उसे लीला नहीं मान सकते । कहा जाता है कि ज्ञान के अन्तिम तट पहुँच जाने पर हम लोग भगवान की इस लीला को समझ जाते हैं परन्तु विश्व के कर्म-क्षेत्र में ज्यों-ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों हमारी वेदनाओं की उग्रता भी बढ़ती जाती है । सभी कष्टों और वेदनाओं की अपने कर्मों का अनिवार्य फल मानकर हम सब कुछ भले ही सहते रहें, पर यह सच है कि हमारे मन को संतोष नहीं होता । अपने पुण्यों की शक्ति से जो देवलोक के अधिवासी हैं उन्हें मर्त्य-लोक के निवासियों की वेदनाओं से क्या सहानुभूति हो सकती है ? देवगण मनुष्यों के कष्टों को तिरस्कार की ही दृष्टि से देखते होंगे । वे असीम सुखों के अधिकारी होते हैं ! तब उन्हें यातना का अनुभव ही कैसे हो सकता है ? हम

लोगों के मर्त्य-लोक में भी देव-तुल्य लोग होते हैं। वे लोग विशेष क्षमता-संपन्न होते हैं, उन्हीं में शक्ति रहती है, वे ही ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं, पर मर्त्य-लोक के अधिकांश निवासी सुख नहीं दुःख का ही उपभोग करते हैं। उनका घर, उनकी रहन-सहन, उनका पारिवारिक जीवन सभी में एक हीनता रहती है। उनकी इच्छाओं, आशाओं और भयों में भी कोई गौरव नहीं रहता। पृथ्वी में तृण की तरह वे लोग जन्म लेते हैं और तृण की तरह वे अपना जीवन-यापन करते हैं। आँधी धूल उड़ाकर उन्हें ढाँक देती है। सभी निर्भीकता से उन्हें कुचल कर चले जाते हैं, उनमें काँटे भी नहीं हैं। उनमें केवल सहिष्णुता है, पर वही उनकी सबसे बड़ी शक्ति है। उसी के कारण वे लोग जीवित रहते हैं। फिर भी यह बात नहीं है कि वे सुख का अनुभव नहीं करते। ग्रीष्म के उत्थाप के बाद उनके भी जीवन में पावस की श्याम घटा उदित होती है, शरद की अनुराग लालिमा प्रकट होती है, शिशिर और वसन्त की शुभ्रता आती है, वसन्त की नव-श्री भी लक्षित होती है। धूल-धूसरित होने पर भी वे एक सुख, संतोष और तृप्ति का अनुभव करते हैं। यह सत्य है कि उनमें शक्ति का दर्प नहीं, विशाल वृक्षों की तरह वे मस्तक उन्नत कर नहीं खड़े होते। उनका आश्रय लेने के लिये पक्षियों का समूह नहीं आता और न कोई विहंग उनका स्तुतिगान करता है। अपने फूलों और फलों के भार से वे संसार में आदर भी नहीं पाते। उनके फल और फूल इतने क्षुद्र होते हैं कि वे उन्हीं में प्रकट

होकर उन्हीं में लीन हो जाते हैं। सबसे अज्ञान, उपेक्षित और दलित रहकर वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं। पर उन्हीं में उनके जीवन की सार्थकता है, उन्हीं में उनकी सफलता है और वही उनके जीवन की साधना है।

क्रमशः अंधकार फैलने लगा। रामदास उस अंधकार में एक विलक्षण मानसिक स्थिति का अनुभव करने लगा। कभी-कभी हम सब लोगों में मोह की एक ऐसी विलक्षण स्थिति आ जाती है, जब हम लोग भीतर और बाहर एक शून्यता का अनुभव करते हैं। उस समय बाह्य-जगत् पर दृष्टि आबद्ध रहती है, पर मन उसे ग्रहण नहीं करता। उसी प्रकार भीतर भी भावों में शिथिलता, निश्चेष्टता और जड़ता आ जाती है। तब न सुख का अनुभव होता है, और न दुःख का। शरीर के सभी अंग यन्त्रवत् काम करते रहते हैं। चेतना-शक्ति बनी रहती है। पर मन में एक ऐसा अवसाद छा जाता है कि हमें सर्वत्र एक शून्यता की अनुभूति होती है, जैसे कहीं कुछ नहीं है, न प्रकृति का सौन्दर्य है, न संसार का व्यापार है, न स्नेह का ममत्व है, न कर्तव्य का बंधन है, न गौरव है, न हीनता है। केवल यही एक भाव विद्यमान रहता है कि मैं अकेला हूँ। इस असीम जगत् में मैं बिल्कुल एकाकी हूँ। इस समय सारा विश्व मिथ्या प्रतीत होने लगता है। स्वार्थ का यह संघर्ष कितना विकट है, शक्ति का यह गौरव कितना तुच्छ है, श्री का यह विलास कितना तिरस्करणीय है। पर मोह की यह अवस्था क्षणिक होती है। हमें फिर अपने

स्वार्थ जगत में आना ही पड़ता है। हमें फिर अपने स्वार्थों की चिन्ता करनी ही पड़ती है। फिर वही कष्ट, वही प्रयास, वही सेवा स्वीकार कर कर्म-क्षेत्र में प्रविष्ट होना पड़ता है। तुच्छ स्वार्थों के लिये हमें दूसरों से कृपा की भिक्षा माँगनी पड़ती है। तिरस्कृत और अपमानित होने पर भी हम अपनी सेवाओं से प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। हम कष्ट में पड़कर द्वार-द्वार भटकते हैं और अपनी योग्यता का प्रमाण देने के लिये चाटुकारिता का आश्रय लेते हैं।

सहसा स्नेह की उज्ज्वल दीप्ति की तरह वह कमरा विद्युत के प्रकाश से जगमगा उठा। रामदास कुर्सी पर छेद गया। वह फिर ध्यान में मग्न हो गया। अतीत की कितनी ही विस्मृत बातें उसके अंतःकरण में एक एक कर उदित होने लगीं।

उसे अपने बड़े भाई का स्मरण हो आया। एक ही पिता के वे दो पुत्र थे। एक ही स्थान में उन दोनों का जन्म हुआ। एक ही स्थान में उन दोनों का लालन-पालन हुआ। एक ही परिस्थिति में दोनों ने एक ही विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की; तो भी उन दोनों में इतनी विपरीतता है कि बिना बतलाये कोई भी यह नहीं कह सकता कि वे दोनों भाई-भाई हैं। उन लोगों में विचार भिन्न हैं, रुचि भिन्न है, चाल-चलन, रंग-ढंग, व्यवहार, स्थिति सभी ही भिन्न हैं। समता कहाँ है, यह वह स्वयं नहीं जान सकता। फिर भी उनमें बन्धुत्व है। स्वार्थों का संघर्ष होने पर दोनों में कई बार विरोध हुआ, विद्वेष हुआ, वैमनस्य हुआ। फिर भी प्रेम में

एक अलक्षित सूत्र से वे ग्रथित ही रहे । कितनी ही अच्छी मैत्री क्यों न हो, उसमें यह बन्धुत्व आ ही नहीं सकता । यह ईश्वर-प्रदत्त स्नेह-बंधन है और मैत्री मनुष्य निर्मित प्रेम-सूत्र है । विवाह का बन्धन भी कम आश्चर्यजनक नहीं है । कहाँ की एक स्त्री आकर गृह की स्वामिनी बन जाती है और उसीसे पुरुष का भाग्य इतना सम्बद्ध हो जाता है कि वह उसके जीवन की गति को ही बदल देती है । असंख्य नारियों में से एक विशेष नारी ही एक विशेष पुरुष के जीवन में आकर मिल जाती है । दोनों का स्वार्थ एक हो जाता है । दोनों का सुख-दुख एक हो जाता है ।

विज्ञ लोग मनुष्यों की स्वार्थ-बुद्धि की चाहे जितनी भी निन्दा करें, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इसी बुद्धि की प्रेरणा से मनुष्य उच्च से उच्च और नीच से नीच काम करता है । कीर्ति की लालसा, सम्पत्ति का लोभ, उन्नति की कामना, सब इसी पर निर्भर है । उसीके कारण मनुष्य प्रयास करता है, तरह तरह के उद्योगों में व्यग्र रहता है, तरह तरह की चिन्ताओं में लीन रहता है और तरह तरह के कष्ट सहता है । सच तो यह है कि पुत्र, कलत्र, परिवार, देश सभी उसीके कारण प्रिय होते हैं । उसे भी जो कुछ सुख-दुख का अनुभव हुआ, उसमें वही स्वार्थ-बुद्धि काम कर रही है । अपने इस घर से उसकी जो इतनी ममता है, उसका भी यही कारण है । उसका जीवन उस एक गृह से इतना सम्बद्ध है कि सचमुच यही एक उसका अपना घर है ।

किस अपमान, किस व्यथा, किस ग्लानि और किस यातना

से उसने अपना यह घर छोड़ा था। परन्तु आज वह अपने पुरुषार्थ से उसी घर का स्वामी बन कर फिर आ गया था। वह अर्थ-कष्ट कहाँ गया ? वह दुःख कहाँ विलीन हो गया ? किन्तु—

वह कमरे की ओर देखने लगा। सामने दीवार पर एक चौपाई लिखी हुई थी—

‘करहु करहु किमि कोटि उपाया,
यहाँ न लागहि राउर माया।’

इस पद को पढ़कर रामदास के मुख पर एक मुस्कराहट दौड़ गई। यह पद उसी की स्त्री ने लिखा था। उसे अपनी स्त्री का स्मरण हो गया। वह कितनी सुशील थी, कितनी सुन्दर थी। उसमें कितनी उदारता थी, कितनी सहिष्णुता थी और कितना मान था। उसे उस दिन का स्मरण हो आया जब वह मृत्युशय्या पर पड़ी थी। उस समय उसने क्षीण शब्द से कहा था—“मैं तो चली पर आपके बिना मुझे स्वर्ग में भी सुख नहीं मिलेगा। अब आप इन बच्चों पर स्नेह बनाये रखेंगे। ये बच्चे मैं आपको सौंपे जाती हूँ।”

पच्चीस साल हो गये। उस समय विनोद १२ वर्ष का था और ललिता केवल नौ वर्ष की। अपनी स्त्री की मृत्यु के बाद रामदास को कितना कष्ट हुआ, उसे वह ही जानता है। उसके घर की सभी व्यवस्था नष्ट हो गई, सभी दास-दासियों ने उसे धोखा दिया, उसकी स्त्री के साथ उसकी गृहलक्ष्मी भी चली गई। घर में एक के बाद एक संकट आने लगे। उसकी आर्थिक

अवस्था हीन होने लगी और अंत में वह ऋण से इतना दब गया कि उसको घर तक छोड़ना पड़ा ।

रामदास शोक से अधीर होकर कमरे में टहलने लगा । दीवाल में एक आलमारी थी । उसने उस आलमारी को खोला । उसमें एक टूटा हुआ दर्पण था । उसने उस दर्पण को उठा लिया । उस दर्पण में संसार के कितने दृश्य प्रतिफलित हुए हैं । सौंदर्य और वीभत्सता, प्रेम और घृणा, क्रोध और तिरस्कार आदि सभी विभिन्न भावों की झलक उसके हृदय पर प्रतिबिम्बित हुई है । पर वह स्वयं निर्विकार है, निर्मल है, तभी अभी तक वह व्योम का त्यों है । यह दर्पण वह कब लाया था ? ठीक है उसे स्मरण हो आया—ललिता के जन्म दिन पर ही वह कलकत्ते से लौटा था । कलकत्ते में उसने वह दर्पण लिया था । उस समय वह कितना सुन्दर प्रतीत होता था, उसकी स्त्री भी उसे देखकर प्रसन्न हुई थी । कलकत्ते में वह बीस दिन तक विमला के यहाँ ठहरा था । विमला का घर ठीक गंगा के किनारे था । जब वह खिड़की खोल देता था तब वह अपने कमरे से ही गंगा का दृश्य देख लेता था । विमला की लड़की रत्नमाला उससे खूब हिलमिल गई थी । उसकी कितनी तीक्ष्ण बुद्धि थी । विमला ने उसका कितना अच्छा सत्कार किया था, उसकी कितनी अच्छी सेवा की थी । उस समय विमला से उसकी कितनी घनिष्ठता थी, परन्तु अब वह भी सर्वथा अपरचित हो गई है ।

रामदास ने एक दीर्घ निःश्वास लेकर दर्पण रख दिया, इसके

बाद वह आलमारी के दूसरे हिस्सों को देखने लगा । वह मानों अपने अतीत-जीवन के विलुप्त रत्नों को खोजने लगा । एक मिट्टी का दिया मिला । एक टूटी कंधी मिली । दो-चार फूटी तसबीरें मिलीं । वह इन सब को बटोर कर ले आया और मेज पर रखकर वह फिर आराम कुर्सी पर लेट गया ।

उसने मिट्टी के उस दिये को उठा लिया । यह यहाँ कैसे पड़ा रहा । यह दीपावली के उपलक्ष में जलाया गया था । वही उसके लिये अंतिम दीपावली थी । उसी के बाद तो उसका जीवन अंधकार-मय हो गया और यह गृह भी तमोमय हो गया । मिट्टी का यह छोटा सा प्रदीप स्वयं कितना क्षुद्र, कितना अशक्त है । यह तो एक प्राण-हीन, चेतना-हीन और शक्ति-हीन जड़-वस्तु है, पर किसी के स्नेहमय कोमल स्पर्श से यह कैसे ज्योतिर्मय हो जाता है । किसी से स्नेह पाकर वह स्वयं प्रकाशित होता है और दूसरों को भी प्रकाश देता है । तब वह उल्लास का, शान्ति का और प्रेम का प्रदीप हो जाता है । तब उसकी ज्योति में कितनी उज्ज्वलता, कितनी स्निग्धता और कितनी कोमलता आ जाती है । मिट्टी के इस क्षुद्र प्रदीप में उसका आवेग, उसका हर्ष, उसका उल्लास बिलीन है । मनुष्यों के जीवन-प्रदीप के लिये भी तो किसी का स्नेह चाहिए । तभी वह तेजोमय होता है । स्नेह से वंचित होने पर उसकी सारी शक्ति लुप्त हो जाती है ।

उसके जीवन में किसी एक समय में किसी एक ही व्यक्ति की प्रधानता थी । एक एक कर कितने ही लोग उसके जीवन में

आये और चले गये । उसके कभी दो सहचर नहीं हुए । जो एक अपनी इच्छा से उसके पास आया, वही कुछ समय तक उसका सहचर रह कर अपनी इच्छा से उसे छोड़कर चला गया । वह स्वयं सदैव स्वच्छंद रहा । जब उसके मन में जैसी प्रवृत्ति रही, तब उसने वैसा ही किया । उसने प्रशंसा और निन्दा दोनों की उपेक्षा की । सब लोगों के बीच में रहकर भी वह सब लोगों से पृथक् रहा है । इसीसे उसने जिसको अपनाया, उसको हृदय-पूर्वक अपनाया । पर ऐसी स्थिति ही होती गई कि सभी उससे अलग होते गये ।

कंधी कितनी छोटी वस्तु है परन्तु आज उसने रामदास के हृदय में अतीत-स्मृतियों का द्वार खोल दिया है । जब सुमित्रा उसके घर आई थी तब वह अपने साथ वही कंधी ले आई थी । सुमित्रा के साथ उसका अठारह वर्ष का जीवन-काल सम्बद्ध था । उसे याद आया कि वह किस प्रकार सुमित्रा से पहले परिचित हुआ, किस प्रकार उससे घनिष्ठता बढ़ी और अन्त में वह किस प्रकार उससे अलग हो गया । एक तेरह वर्ष की बालिका उसके नेत्रों के सामने आ गई । उसमें कितनी चंचलता थी, कितनी सुन्दरता थी, कितनी सरलता थी । उसने एक दिन पूछा—‘बतलाओ तो मेरे केश कितने सुन्दर हैं ?’ एक दिन आने में जरा विलम्ब होने पर उसने खीझकर कहा—‘क्या तुम यह समझते हो कि तुम्हारे लिये मैं रात भर बैठी राह देखती रहूँगी ।’ परन्तु उसकी इस खीझ में कितनी ममता थी और

कितना स्नेह था। अपने पिता और भाई से भी अधिक वह उस पर विश्वास करने लगी थी। कुछ भी कष्ट होने पर वह उसी का आश्रय लेती थी, सुख में और दुःख में वही उसका अवलम्ब था। और फिर भाव-परिवर्तन हुआ। अपराध उसी का था। सुमित्रा ने उसका अपराध अश्रुमय समझा। क्रोध, क्षोभ और वेदना में वह एक-मात्र कंधी को अभिशाप के रूप में छोड़कर घर से चली गई।

साधारण मनुष्यों के जीवन में बड़ी बड़ी घटनाएँ नहीं होती हैं। वे लोग दूसरों के लिये कोई भी चिर-स्मरणीय बात नहीं कर जाते। परन्तु उनके सुख-दुख का यह जीवन-काल चिरंतन है। सभी लोग उसमें बहते चले जा रहे हैं। अपने अपने भावों की तरंगों में पड़कर सभी लोग डूबते, तराते, छिपते, टकराते और चक्कर खाते चले जाते हैं। अपने दुःख में किसको किसी अन्य के सुख से हर्ष होता है। अपने उल्लास में किसे किसी अन्य के विषाद की सुधि रहती है। अपनी सिद्धि में दूसरे की हानि, अपनी प्रतिष्ठा में दूसरे के अपमान का ध्यान किसे रहता है ?

कंधी को छोड़कर रामदास ने फटी तसबीरों पर दृष्टिपात किया। भगवान विष्णु का यह चित्र उसकी माता को बहुत प्रिय था। जबतक उसकी माता जीवित थी तबतक वह बराबर दीपावली के अवसर पर प्रतिवर्ष लक्ष्मी के एक चित्र के साथ साथ विष्णु का यह चित्र अवश्य लेती थी। उसी के कारण रामदास को

भी उस चित्र से अनुराग हो गया था। वह भी कैसा सुखद समय था। अपने माता और पिता के जीवन-काल में रामदास ने जिस स्वच्छता का उभोग किया, वह उसके परिवर्तित जीवन में दुर्लभ हो गया। वह कितना उत्पात करता था, कितना उपद्रव करता था, अपनी माँ को वह कितना तंग करता था। माँ उससे क्रुद्ध होती थी, डाँटती थी, पर जब वह उससे जो माँगता था, वह दे देती थी। दीपावली में वह माँ से दस रुपये लेकर ही छोड़ता था। दशहरे में वह पाँच से कम लेता न था। होली पर भी वह चार-पाँच रुपये पा ही जाता था। ये रुपये उस समय उसको कुबेर की अक्षय-निधि से भी अधिक आनन्द देते थे। उसके उड़ाने में अधिक विलम्ब नहीं लगता था। पर उसकी सारी लालसाएँ पूर्ण हो जाती थीं।

वह समय फिर उसे प्राप्त नहीं। कितने सुख के साथ उसने वे दिन व्यतीत किये थे। उसका छात्र-जीवन भी कितना सुखमय था। एक एक कर कितने ही मास्टर्स से उसने शिक्षा प्राप्त की थी। गुरुचरण ने उसको सबसे पहले अक्षर का ज्ञान कराया था। उसमें कितना वात्सल्य था, वह उस पर कितना प्रेम करता था। उसकी माता भी गुरुचरण की दौनावस्था देखकर उस पर विशेष कृपा करती थी। मासिक वेतन के अतिरिक्त गुरुचरण अन्य वस्तु भी पा जाता था। वह ज्योंही उसे पढ़ाकर रात को छुट्टी देता, त्योंही वह अपनी माँ के पास दौड़कर और उन्हें कहानी सुनाने के लिये विवश करता था। माँ न जाने किस देश की राजकन्या

की कथा कहा करती थी, जिसके केश सोने के थे । बार-बार वह वही कहानियाँ सुना करता था । उसे कभी विरक्ति नहीं होती थी । सुनते सुनते वह सो जाता था ।

रामदास की आँखों में निद्रा-सी आने लगी, वह कुर्सी पर लेट गया । लेटते समय उसने कहा 'माँ-माँ मुझे नींद आ रही है ।' वह अपनी वर्तमान स्थिति को भूल-सा गया । उसे ऐसा जान पड़ा कि वह अभी बच्चा ही है और अपनी माँ से अज्ञात देश की राजकुमारी की कथा सुन रहा है । रामदास की आँखों से यह संसार विलुप्त सा होने लगा वह स्वयं किसी छाया-लोक में जाने लगा ।

थोड़ी देर के बाद रामदास की पौत्री दासी के साथ उसी कमरे में आई । उसने रामदास को हिलाकर कहा—'बाबा उठो, रसोई तैयार है ।'

पर रामदास उठा नहीं । उसकी निद्रा अनन्त थी । वह मृत्यु की अनन्त गोद में विश्राम कर रहा था ।

१७

पाँच अध्याय

पहला अध्याय

(१)

कथा क्या है ? एक ने कहा—वह नीति का आदर्श है, दूसरे ने कहा—वह कल्पना की लीला है, तीसरे ने कहा—वह जीवन का चित्र है। एक ने कथा-द्वारा मनुष्य को सत् और असत् का ज्ञान कराया। नीति शास्त्र मनुष्य जीवन में कथा द्वारा प्रत्यक्ष हो गया। जो काम धर्म के अनुशासकों से नहीं हुआ, वह कथाओं-द्वारा सुलभ हो गया। दूसरे ने कथा में जीवन में सौंदर्य के आह्लाद के साथ वीरत्व और साहस की दीप्ति को युक्तकर एक अद्भुत प्रेम-रस का संचार कर दिया। रमणी रत्न की उपलब्धि में पुरुषार्थ की सच्ची परीक्षा हो गई। सौन्दर्य ने वीरत्व के गले में जयमाला डाली। तीसरे ने जीवन के वैचित्र्य को प्रदर्शित करने के लिये बाह्यजगत और अन्तर्जगत को मथ डाला। मनुष्य-जीवन के गूढ़तम प्रदेश में भी सत्य का आलोक डाला गया। जीवन-वैचित्र्य के इस प्रदर्शन से आनन्द हुआ, कौतूहल हुआ, विस्मय हुआ, उद्वेग हुआ, घृणा हुई, पर जीवन रहस्य-मय बना ही रहा। संसार के अनंत कौतुकागार में सत्य का रूप भी अनंत है। जीवन की यथार्थ आत्मा छिपी हुई है। इसीसे कथा में नीति है, प्रेम की लीला है और जीवन की झलक है।

विपिन सोचने लगा यह जीवन भी ता एक कथा है। उसमें क्रम नहीं है, शृंखला नहीं है; फिर भी कोई अज्ञात शक्ति भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को, भिन्न-भिन्न घटनाओं को और भिन्न-भिन्न भावों को किसी एक ही सूत्र में क्षणभर प्रथित कर देती है। संसार में एक ओर कर्मचक्र चल रहा है और दूसरी ओर मनुष्यों के अन्तर्जगत् में एक भावचक्र भी घूम रहा है। संसार में सुख और दुःख है, ऐश्वर्य और दैन्य है, यश और अपयश है; और मनुष्य के अन्तर्जगत् में प्रेम और विद्वेष है, लोभ और त्याग है, स्नेह और क्रोध है, विनय और अहंकार है। अभी तक उसने कितने ही अच्छे और बुरे काम किये और दुःख पाये, तो भी उसे अपना संसार स्पृहणीय ही प्रतीत हुआ। अब वह अपने जीवन में शून्यता का अनुभव करने लगा है, जैसे कहीं कुछ सार ही नहीं है, जैसे वह कुछ व्यर्थ है। अब उसे ऐसा ज्ञात होता है कि अपने जीवन-पथ का वह एकाकी यात्री है। यह सच है कि एक-एककर गुलाब, श्यामा और शशि तथा नरेन्द्र, प्रभात और रमेश उसके जीवन में आये पर वैसे ही एक-एककर वे चले भी गये। अतीत न जाने अपने साथ कितनी बातों को ले गया है-न अब वे मनुष्य रहे और न वे दिन। वे सुख गये और वे दुःख भी गये, वह आकांक्षा गयी और वह प्रयास भी गया। वह स्फूर्ति गई और वह चिन्ता भी गई। सब चले गये, किन्तु कुछ जैसे जाते जाते भी रह गये। उनसे वह पृथक् ही नहीं हो सकता,

(२६१)

उनको वह पृथक् ही नहीं कर सकता, पर हैं वे सब कितनी क्षुद्र बातें ।

(३)

वह था मास्टर । संसार के अन्य व्यवसायों को छोड़कर उसने विद्या का यह व्यवसाय स्वीकार किया था । कितना पवित्र काम है यह । सरस्वती की आराधना में निरत रहना—इससे बढ़कर कौन दूसरा कार्य हो सकता है ? विद्यालय क्या किसी तपोभूमि से कम है ? शिक्षक का जीवन क्या किसी तपश्चर्या से हीन है ? ऐसे छात्र उसके सहचर, जिनमें न छल है न कपट है, जिनका जीवन सरल है और पुनीत । अपने मन में गौरव का यही भाव लेकर वह अपने कल्पित गुरु-पद पर आसीन हुआ । सभी छात्र उसके स्नेह के पात्र थे । उनके कष्ट उसके कष्ट थे, उनके सुख उसके सुख थे । उन्हीं के बीच में वह रहता था; वही उसके मित्र थे और वही उसके बन्धु । कितने ही वर्षों तक उसके कितने ही छात्रों ने उसकी सेवा की, पर यहाँ आने के बाद उसे ज्ञात हुआ कि वह गुरु नहीं लघु है । प्रतिदिन उसे अपनी यथार्थ लघुता का स्मरण कराया जाता है । पर कुछ ही समय पहले कुछ और ही बात थी ।

(४)

श्यामा ने कहा—एक बात कहूँ । आप नाराज तो नहीं होंगे ।

विपिन—नहीं ।

उसने कहा—आज जब मैं ऊपर खड़ी होकर आपके आने की

राह देख रही थी तब शन्नो भी मेरे साथ थी । आपको आते देख मैंने उस से कहा—‘देखो शन्नो, वे मेरे मास्टरजी आ रहे हैं ।’ तब उस ने कहा—‘वही क्या तुम्हारे मास्टर हैं जो भाखू की तरह बाल बढ़ाये चले आ रहे हैं ?’

मैंने कहा—‘चुप चुप, वे सुनेंगे तो बहुत नाराज होंगे । उन्हें अपनी दाढ़ी पर बड़ी ममता है । सुना है कि एक बार इसी सम्बन्ध में किसी के कुछ कहने पर वे उससे झगड़ पड़े थे ।’ तब शन्नो ने कहा—‘मैं उनसे नहीं डरती । मैं तो उन्हें कहूँगी कि भगवान ने तुम्हें आदमी बनाया है तब तुम जानवर क्यों बन रहे हो ?’ तब मैंने कहा, अरी तू जानती नहीं । सभी फिलासफर ऐसा करते हैं ।

उसने कहा— फिलासफर किस जानवर को कहते हैं ? मैं तो उसे नहीं समझ सकी पर अब आपही उसे समझा दीजिये कि फिलासफर के सींग नहीं होते, सिर्फ दुम होती है चाहे छोटी हो या बड़ी ।

विपिन—मैं फिलासफर तो नहीं हूँ, पर आप दस मिनट को छुट्टी मुझे दीजिये । मैं अभी आता हूँ ।

श्यामा ने कहा—क्यों, आप क्या नाराज हो गये ?

विपिन—नहीं, पर पहले शम्भू की दूकान जाकर जल्दी से बाल बनवा आऊँ फिर आपको उत्तर दूँगा ।

विपिन बोला—क्या आप जानती हैं कि आपसे इतना आदर

पाकर मैं सचमुच एक लज्जा का अनुभव कर रहा हूँ ।

श्याम ने कहा—यदि मैं यह जानती तो आदर देकर आपको लज्जित न करती । पर आपकी इस लज्जा का कारण क्या है ?

विपिन—बात यह है कि आपसे इतना आदर पाकर और उसे ग्रहणकर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मैं आपको ठग रहा हूँ ।

श्यामा—आप ठग हो सकते हैं, पर मुझमें आपने बुद्धि का ऐसा अभाव कैसे समझ लिया कि मैं धोखे में पड़कर आपको आदर देने लगूँ ?

विपिन—मेरी हीनता मुझमें इतनी प्रत्यक्ष है कि मैं आदर का पात्र हो नहीं सकता ।

श्यामा—संभव है आपका कथन ठीक हो, पर आदर-पात्र कोई बनाया भी जा सकता है । यदि यह बात न होती तो सिर्फ कान फूँक देने से कोई किसी का प्राणम्य नहीं हो जाता । जो आदर देता है उसके हृदय में कोई ऐसा भाव अवश्य होना चाहिये, जिसके कारण वह अपने आदरणीय लोगों में महत्ता देख ले ।

विपिन—क्या यह संभव नहीं है कि कोई यह सोचकर डरने लगे कि अपनी हीनता के कारण किसी दिन वह आदर के साथ स्नेह भी न खो बैठे ?

श्यामा—यह तो भूल है, जहाँ स्नेह की भावना है वहाँ न तो गौरव की गुरुता रह जाती है और न लघुता की हीनता ।

श्यामा ने कहा—आपके कोई मित्र नहीं है क्या ?

विपिन—दुर्लभ हो अथवा सुलभ, पर संसार में सभी लोगों के मित्र होते हैं और शत्रु भी ।

श्यामा—शत्रु भी होते होंगे । पर मैत्री के लिये सभी के हृदय में एक लालसा रहती है । मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि आप सदैव अकेले रहते हैं ।

विपिन—अकेले तो नहीं रहता, पर मैं मैत्री कर अपने शत्रुओं की संख्या नहीं बढ़ाना चाहता ।

श्यामा—यह तो अचरज की बात है । मैत्री के द्वारा शत्रु कैसे बढ़ सकते हैं ?

विपिन—जो कभी मित्र रहते हैं वही कभी स्थिति परिवर्तित होने पर शत्रु हो जाते हैं । जिनसे प्रेम होता है उन्हीं से तो विद्वेष होता है । इसीलिये मैं किसी एक ही के साथ रहना पसन्द करता हूँ । अभी तक मेरे जीवन के किसी भी एक समय में केवल एक ही व्यक्ति की प्रधानता रही है । मेरे कभी कभी दो सहचर नहीं हुये । जो कोई भी एक अपनी इच्छा से मेरे पास आया वही कुछ समय तक मेरा साथी बना रहा । फिर वही अपनी इच्छा से मुझे छोड़कर चला गया । यह सच है कि सभी तरह के लोगों के बीच में रहकर मैं अकेला ही रहा हूँ । पर एक बात अवश्य है, जिस किसी को मैं एक बार पकड़ पाता हूँ, उसको मैं हृदय पूर्वक ही पकड़ना चाहता हूँ । मैं उसे सहसा छोड़ना नहीं चाहता ।

श्यामा—तो आजकल आप किसे दृढ़ता पूर्वक पकड़ रहे हैं ?

विपिन—जो स्वेच्छा से यह अधिकार मुझे देता है, उसी पर मैं यह अधिकार रखता हूँ ।

श्यामा—पर अधिकार के साथ कर्तव्य भी तो रहता है ।

विपिन—बिलकुल सच है । जहाँ कर्तव्य नहीं, वहीं अधिकार का लोप हो जाता है । तभी तो मैं चाहता हूँ कि मेरे कर्तव्यों का अन्त ही न हो, किसी न किसी रूप में मेरा कर्तव्य बना रहे । जब तक यह कर्तव्य है, तभी तक मैं किसी पर अधिकार का दावा भी कर सकता हूँ ।

(७)

श्यामा ने कहा—मुझे तो जान पड़ता है कि आप अपना जीवन नष्ट कर रहे हैं ।

विपिन—मैं अपना जीवन नष्ट नहीं कर रहा हूँ, मैं अपना जीवन निर्वाह कर रहा हूँ ।

श्यामा ने कहा—इस तरह काक भी चिरकाल तक जीवन निर्वाह कर सकता है ।

विपिन—तो क्या आप मुझे अभी तक हँस समझ रही हैं ?

श्यामा—आपसे अधिक ज्ञान रखने का दावा मैं नहीं कर सकती पर यह बात सच है कि जिसमें महत्वाकांक्षा नहीं है वह जीवन में कुछ कर भी नहीं सकता ।

विपिन—महत्त्व का ज्ञान होने ही के कारण मैं उसके लिये आकांक्षा कैसे करूँ ? तभी तो डर रहा हूँ कि काक होकर हँसों

की पंक्ति में बैठने का यदि मैं प्रयास करूं तो कहीं मुझे काकों की पंक्ति में भी स्थान न मिले !

श्यामा—तो काक-जीवन में ऐसी कौनसी विशेषता है जिसके कारण आपको पश्चात्ताप करना पड़ेगा ?

विपिन—उस चूहे को अपने जीवन से ग्लानि नहीं हो सकती जो आजीवन चूहा बना रहता है । पर जो मुनि की कृपा से कुत्ता बना और फिर कुत्ते से शेर, वह यदि मुनि की अकृपा से फिर चूहा बन गया तो उसे अपने ही जीवन से घृणा हो जायगी । इसीलिये मुझमें महात्वाकांक्षा नहीं है ।

श्यामा—महात्वाकांक्षा क्या किसी दूसरे की कृपा पर निर्भर है ?

विपिन—आकांक्षा भी हमीं करते हैं और प्रयास भी हम ही करते हैं । पर फल अवश्य हमारे हाथ में नहीं है । वह तो किसी अन्य की ही कृपा का परिणाम है ।

(८)

श्यामा ने कहा—एक बात कहूँ, आप नाराज तो न होंगे ?

विपिन—आपको मेरी अप्रसन्नता का बड़ा डर है ।

श्यामा—बात यह है कि और लोग जिससे प्रसन्न होते हैं उससे आप अप्रसन्न हो जाते हैं ।

विपिन—तो यह मेरी बुद्धि का दोष है, पर मैं आपकी वह बात भी तो सुनूँ ।

श्यामा—मैंने सुना है कि आपमें असाधारण शक्ति है ।

विपिन—मैंने तो अपने में किसी भी असाधारण शक्ति का

अनुभव नहीं किया है। यदि किसी ने अपनी असाधारण दृष्टि से मुझमें किसी असाधारण शक्ति का आविष्कार कर लिया है, तो दूसरी बात है। पर आप मेरी वह असाधारण क्षमता भी तो बता दीजिये।

श्यामा—मैंने सुना है कि आप पढ़ने में इतने तन्मय हो जाते हैं कि एक बार आप पढ़ते पढ़ते तेईस मील चले गये थे। क्या यह बात सच है ?

विपिन—यदि इसे मैं अपनी प्रशंसा मानकर सच कहूँ तो उन लोगों की अन्य बातों को भी सच कहना पड़ेगा और वे अन्य बातें मेरे लिये गौरव जनक नहीं हैं। बात यह है कि लोगों को असाधारण बातें करने में एक आनंद आता है, इसलिये जैसी असाधारण उनकी स्तुति होती है वैसी ही असाधारण उनकी निंदा भी होती है। आज आपके पास किसी ने मेरी स्तुति की है तो कल कोई असाधारण निंदा भी करेंगे। इसलिये आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे असाधारण न समझें। मुझे अपने साधारण सुख-दुःख के ही जीवन से संतोष है।

(९)

विपिन—आपके उपकारों से मैं बिलकुल दब गया हूँ।

श्यामा—तभी आप मेरे इन उपकारों के असत्य भार के कारण मुझे छुट्टी देना चाहते हैं। यह स्पष्ट है कि अब आप इस छात्र का बोझ नहीं सहन कर सकते।

विपिन—मेरी तो अब अपनी कोई शक्ति नहीं है। मैं तो

दूसरों के ही आश्रय में रहता हूँ। मुझे तो अब ऐसा जान पड़ता है कि मेरा अब कोई अस्तित्व ही नहीं रहा। एकलव्य के द्रोणाचार्य की तरह मैं बिल्कुल पत्थर की मूर्ति तो नहीं हूँ, पर यह सच है कि मैं अब केवल एक छाया मात्र हो गया हूँ, छाया की तरह मैं केवल अनुचर हूँ।

श्यामा—पर किसकी छाया है; यह भी तो मैं जान लूँ?

विपिन—प्रतिध्वनि की तरह छाया भी किसी एक की नहीं रहती। जो उसे कृपा पूर्वक अपनाता है वह उसीका अनुसरण और अनुकरण करती है।

श्यामा—तभी आपको जब बारबार आने को कहा गया तब आप नहीं आये। छाया की तरह आप को पकड़ने की जितनी कोशिशें कोई करता है, उतनी ही दूर आप भाग जाते हैं।

विपिन—छाया को पकड़ना छोड़ दीजिये तो वह भाग कहाँ सकती है? उसका जीवन तो दूसरों की कृपा और आश्रय पर निर्भर है।

श्यामा ने कहा—सभी लोग यह कहते हैं कि हम जो कुछ कह रहे हैं या कर रहे हैं वही सच है। विश्वास किया जाय तो किनकी बातों पर किया जाय? अपने मिथ्या गौरव के दम्भ में लोग झूठी बातें कह कर दूसरों को धोखे में डाल देते हैं।

विपिन—बातें सच्ची होने पर ही विश्वसनीय नहीं होती। जो बातें हमें अच्छी लगती हैं उन्हीं पर हम विश्वास कर लेते

हैं। सचची बात तो यह है कि जब हम विश्वास करना चाहते हैं, तभी हमें विश्वास होता है। जिसे अब आप मिथ्या दम्भ समझती हैं, उसी को वह अपना यथार्थ गौरव समझता है। आपने भी उसको सच मानकर ही विश्वास किया; क्योंकि उस पर आपका श्रद्धापूर्ण स्नेह रहा। जब स्नेह नहीं रहता तभी सब कुछ मिथ्या प्रतीत होता है। स्नेह में तो हम झूठ जानकर भी सच मान लेते हैं। क्या आपने शेक्सपियर की ये लाइनें नहीं पढ़ी हैं:—

When my love swears that she is made of truth. I do believe her though I know she lies.

श्यामा—मिथ्या बातों से किसी को संतोष नहीं हो सकता। जो बात मिथ्या है उसकी असारता तो किसी दिन प्रकट हो ही जाती है। तब भ्रम में पड़े रहने के कारण वेदना और भी तीव्र हो जाती है।

विपिन—यह सच है कि जो बात मिथ्या है वह कब तक टिकेगी, पर जब तक वह टिकी रहती है तब तक उससे सुख और संतोष दोनों होते हैं। उसी के कारण हम लोगों में स्फूर्ति भी आती है। जो तत्त्ववेत्ता हैं उनका यही कथन है कि यह संसार ही मिथ्या है। हम जो कुछ भी कर रहे हैं वह मोहवश ही कर रहे हैं, पर यदि यह मोह न रहे तो संसार की गति ही अवरुद्ध हो जाय। मृग की तृष्णा मरीचिका से भले ही दूर न हो, पर उसी के कारण वह प्रयास तो करता रहता है। यदि उसे यह ज्ञान

हो जाय कि वह धोखा है, भ्रम है, तो वह किस आशा से किसी ओर दौड़ेगा ? देखिये, आप पर अपने गुरुत्व का कोई गुरुत्व न रहने पर आदर का अधिकार रखने का मुझे जो लोभ है वह मिथ्या है, क्योंकि अब न मैं गुरु हूँ और न आप छात्र हैं। तो भी उसे सच मानकर मैं एक गौरव का उपभोग करना चाहता हूँ। जिस गौरव को तत्त्ववेत्ता की तरह आप मिथ्या समझ रही हैं, उसी के अभाव में मेरी शक्ति लुप्त-सी हो गई है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि अब जीवन में कोई रस ही नहीं है। इसीसे मन में वमंग नहीं है, चाह नहीं है, स्फूर्ति नहीं है।

श्यामा ने कहा—तो जान पड़ता है कि आप जीवन भर मृग की तरह गौरव-मरीचिका के पीछे भटकते फिरेंगे।

विपिन—यही तो जीवन है। सत्य का अन्त नहीं है, इसलिये सत्य के अन्वेषण में विज्ञानजन सदैव व्यस्त रहते हैं। मेरे लिये अब सत्य ने ही मरीचिका का रूप धारण कर लिया है। जब तक तृष्णा सत्य है तब तक मरीचिका भी सत्य है। जिस दिन तृष्णा का अन्त होगा, उस दिन मरीचिका का लोप हो जायेगा।

श्यामा ने कहा—आज आप विषण्ण हैं ?

विपिन—विषण्ण नहीं हूँ केवल चिन्तित हूँ, केवल सोच रहा हूँ कि अब आपके चले जाने पर किसे अपनी मरीचिका की कथा सुनाऊँगा।

(२७१)

श्यामा—उसके लिये अब आप ऐसा श्रोता चुनिये जिसकी श्रवण शक्ति ही न हो, नहीं तो उसे भी उन्माद रोग हो जायगा ।

विपिन—आप में तो इस रोग का लक्षण नहीं दिखाई दिया ।

श्यामा—मैंने भी तो कहानी लिखने का निश्चय कर लिया था । कल्पनाजगत में प्रवेश पाने का यही तो द्वार है और वहाँ केवल विक्षिप्तों का राय है । सभी लोग एक से एक बढ़कर झूठी बात करते हैं । झूठी बातों से मन बहलाया जा सकता है, पर उनसे जीवन का काम नहीं चल सकता ।

(१२)

विपिन सोचने लगा—सच तो है, जो बात झूठी है उससे केवल मन बहलाया जा सकता है; काम के लिये तो सत्य का ही आश्रय लेना पड़ता है । पर उसके जीवन में सत्य कहां है, यही तो वह अभी तक नहीं समझ सका है ।

दूसरा अध्याय

(१)

विपिन सोचने लगा—यहाँ आये उसे दस वर्ष हो गये । १२ वर्ष की विमला अब २२ वर्ष की हो गई और १९ वर्ष का द्विजेन्द्र २९ वर्ष का हो गया है । इन दस वर्षों के भीतर इसी तरह न जाने कितनी बालिकाएँ रहस्यमयी और लज्जाशील किशोरी होकर अब चिन्ताशील युवती हो गई हैं और कितने ही उद्विग्न और उच्छृंखल बालक उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्यों का भार लेकर इतने

उद्विग्न, त्रस्त और व्यस्त होगये हैं कि २९ वर्ष की अवस्था में वे प्रौढ़ावस्था के सांसारिक जीवन का अनुभव कर रहे हैं। सभी मनुष्यों के जीवन में क्रमशः बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था होती है। किसके जीवन में कितने वर्षों से कौन अवस्था प्रारम्भ होती है, यह कहना कठिन है। पर एक के बाद एक ये चारों अवस्थाएँ अवश्य आती हैं। तभी तो किसी ने कहा है कि हम लोगों का जीवन सचमुच एक खेल है। विधाता सूत्रधार है हम सब लोग उसीके आदेश और इंगित पर काम करने वाले नट हैं। रंगभूमि में एक के बाद एक दृश्य बदलते हैं। अन्त में काल की अन्तिम यवनिका गिरती है और हम लोग रंगभूमि के बाहर किसी अलक्षित, अज्ञात, रहस्यमय प्रदेश में चले जाते हैं।

ये अवस्थायें कितनी ही क्षणिक क्यों न हो, पर जब तक वे रहती हैं तब तक उनमें किसी एक भाव की ही विशेषता रहती है। वही भाव उस समय बिल्कुल सत्य प्रतीत होता है, जब वह अवस्था व्यतीत हो जाती है तभी तो हममें उसकी असारता प्रकट हो जाती है।

(२)

नरेन्द्र ने कहा—मास्टर साहब एक बात मैं नहीं समझ सकता।

मास्टर साहब—वह ऐसी कौन सी कठिन बात है जो तुम्हारी समझ में नहीं आती और तुम यह समझते हो कि मैं तुम्हें समझा सकता हूँ।

नरेन्द्र—वह बात आपही लोगों से सम्बन्ध रखती है और

कठिन न होने पर भी तरुणों के लिये विस्मय-जनक अवश्य है। वह बात यह है कि आपके समान लोग पुरानी बातों को इतनी अधिक महत्ता क्यों देते हैं ? नई बातों को ग्रहण करने में उन्हें इतनी हिचकिचाहट क्यों होती है ? क्या पुरानो होने से ही कोई बात अच्छी हो जाती है।

मास्टर साहब—तो क्या नई होने से ही कोई बात अच्छी हो जाती है ?

नरेन्द्र—जब संसार परिवर्तन शील है तब नवीनता तो स्पृहणीय होनी ही चाहिये, क्योंकि परिवर्तन नवीनता लायेगा ही।

मास्टर साहब—पर इससे यह तो प्रमाणित नहीं होता कि परिवर्तन जो नवीनता रखता है वह अच्छी ही होती है।

नरेन्द्र—प्राचीन काल की रीति-नीति में क्या परिवर्तन आवश्यक नहीं है ?

मास्टर साहब—जब परिवर्तन जीवन का नियम है, तब तो परिवर्तन अनिवार्य है। तुम्हारा प्रश्न यह नहीं। तुम तो यह कहना चाहते हो कि जो नवीन परिवर्तन होंगे या हो रहे हैं वे सब अच्छे हैं।

नरेन्द्र—यदि वे परिवर्तन अच्छे नहीं होंगे तो लोग उन्हें स्वीकार ही क्यों करेंगे ?

मास्टर साहब—जो अच्छा होता है उन्हीं को हम स्वीकार नहीं करते; जो हमें अच्छा लगता है उसको हम स्वीकार करते हैं। जीवन में सभी समय सुधार होते ही रहते हैं। आज जिस

जाति-व्यवस्था को तुम जाति के लिये हानिकर समझ रहे हो, वह किसी समय सुधार के ही रूप में स्वीकृत की गई थी। हम लोग अपनी—अपनी आवश्यकता के अनुसार सुधार करते रहते हैं। आजकल देश की जो आवश्यकता है उसके अनुसार क्या धर्म, क्या साहित्य, क्या शिक्षा और क्या समाज सभी में नये सुधार होंगे, पर वे अच्छे ही हैं, इसका निर्णय कौन करेगा ? कुछ समय के बाद तुम्हारे ये ही सुधार पुराने हो जायेंगे और तब आवश्यकता बदल जाने पर उनमें फिर सुधार करने होंगे। जब जीवन परिवर्तनशील है तब सुधारों का भी कोई अन्त नहीं है।

नरेन्द्र—तब आप लोग प्राचीन विधि-विधानों के इतने पक्षपाती क्यों हैं ?

मास्टर साहब—हम लोग प्राचीन विधि-विधानों के पक्षपाती नहीं हैं। उन प्राचीन विधि-विधानों में जो जीवन का उच्चतम आदर्श है, उनके पक्षपाती हम लोग अवश्य हैं। यह कहने का दावा कोई पुरानी लकीर का फकीर नहीं करता कि जिन व्यवस्थाओं के अनुसार वह काम कर रहा है वह ज्यों की त्यों प्राचीन काल में प्रचलित थी। पर यह सच है कि प्राचीन काल में जो जीवन का आदर्श था उसको वह भूलना नहीं चाहता; क्योंकि उसमें जीवन की वह महिमा देखता है जो चिरन्तर है। संसार में जो परिवर्तन होते रहते हैं उनके भीतर भी कहीं महिमा की एक स्थिरता होनी चाहिये। उसी स्थिर महिमा को प्राप्त करने के लिये मनुष्य सदैव प्रयास करता है। जो आदर्श है वह जीवन

की उच्चतम स्थिति को सूचित करता है, वह जीवन का अन्तिम लक्ष्य होता है। अपने जीवन की दैनिक आवश्यकताओं में लिप्त रह कर भी हम सभी लोग यह अनुभव करते हैं कि हमारा जीवन उन आवश्यकताओं के अतिरिक्त भी कुछ है। आजकल तुम लोग अपनी वर्तमान आवश्यकताओं में इतने अधिक लीन हो रहे हो कि वन्हीं की पूर्ति में तुम अपने जीवन की सार्थकता समझते हो। देश में पराधीनता है, कष्ट है, दैन्य, दुख है, अशिक्षा है, पर इन्हीं को लेकर हम अपने जीवन को सफल नहीं कर सकते। जिन बातों की इच्छा तुम अभी कर रहे हो वे बातें जिन देशों में विद्यमान हैं वे देश क्या सुख की अंतिम पराकाष्ठा में पहुँच गये हैं? तुम जो अभी सामाजिक सुधार करना चाहते हो वे सुधार जिन देशों में प्रचलित हैं उनमें क्या जीवन की सच्ची गरिमा तुम्हें लक्षित होती है? इसीलिये धर्म का एक सनातन रूप होता है, नीति का एक अस्थायी आदर्श होता है, वह कठोर साधनाओं का फल है। भारतवर्ष के प्राचीन ऋषियों में उग्र तपश्चर्याओं के द्वारा जिसको उपलब्ध किया है उसे तुम अपनी क्षणिक भावना से नष्ट नहीं कर सकते।

नरेन्द्र—जीवन की वह चिरन्तन महिमा क्या है? उसे तो हम लोग अपने वर्तमान समाज में नहीं देख रहे हैं।

मास्टर साहब—तुम इसलिये उस महिमा को नहीं देख रहे हो; क्योंकि तुम्हारी दृष्टि एकमात्र पाश्चात्य सभ्यता के आदर्शों की ओर है। वहाँ एकमात्र अर्थ को लेकर ही जीवन का संगठन

किया गया है। वहां एकमात्र अर्थ की ही समस्या है। अर्थ की प्राप्ति के लिये जो नीति आवश्यक है वही नीति वहां प्रचलित है। वहां राष्ट्रीय संगठन अर्थ के ही आधार पर हो रहा है। ऐहिक सम्पत्ति और प्रभुत्व की लालसा ने लोगों में जो दुर्दमनीय लोभ उत्पन्न कर दिया है, उसीके कारण वहां मनुष्य निर्जीव यन्त्रवत् हो गये हैं। उन्हें केवल जड़ शरीर की ही चिन्ता है। वे अर्थ को राष्ट्र का मूल आधार बनाकर उसी के लिये लड़ रहे हैं। हम लोगों में प्राप्ति के बाद त्याग का जो आदर्श है वह उनकी समझ में नहीं आ सकता। भारतवर्ष में एकमात्र त्याग के ही आधार पर जीवन का संगठन किया गया था। हिन्दू धर्म में जिसे यज्ञ का नाम दिया गया है, वह यही त्याग है। उसी के कारण अपने अपने कर्मों में लीन रहकर लोग यह समझते थे कि वे परम पुरुषार्थ को स्वयं अपनी चेष्टा से त्याग के द्वारा किसी समय प्राप्त कर लेंगे। त्याग की यह भावना समाज के सभी कृत्यों में थी। स्नेह और प्रेम से त्याग का भाव ही मुख्य था। इसीलिये भीतर स्वाधीन रहकर उन लोगों ने बाहर विधि-विधानों के द्वारा पराधीनता स्वीकार कर ली थी। यही कारण है कि एकनिष्ठ प्रेम को उन्होंने अपने जीवन का आदर्श बना लिया था। मन की चंचलता का अनुभव करते हुये भी उन्होंने मनोनिग्रह को अपना ध्येय बनाया था। वासना को दुर्लभ्य मानकर भी उसके दमन में उन्होंने कठोर साधनाओं को स्वीकार कर लिया था। उनका लक्ष्य ऐहिक जगत न रह कर

पारलौकिक जगत हो गया था; क्योंकि वे यह समझते थे कि वे मर्त्य होकर भी अमरत्व को प्राप्त कर सकते हैं। अब अर्थ की चिन्ता में तुम लोग पाशविक बासनाओं की प्रधानता दे रहे हो। जहाँ समता और अधिकार का प्रश्न है, त्याग और सेवा का भाव आ ही नहीं सकता।

नरेन्द्र—एक बात तरुणों के लिये असह्य है !

मास्टर साहब—कौन सी बात ?

नरेन्द्र—जो हमारे गुरुजन हैं, वे हम पर इतना अत्याचार क्यों करते हैं ?

मास्टर साहब—अत्याचार ?

नरेन्द्र—हां, अत्याचार। क्या यह अत्याचार नहीं है कि वे हमें किसी प्रकार की स्वतंत्रता देना नहीं चाहते ? वे सदैव हम पर संदेह करते हैं। वे यही समझते हैं कि जो कुछ हम कर रहे हैं बिल्कुल ठीक नहीं कर रहे हैं। वे यही चाहते हैं कि हम लोग उन्हीं के द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलें। उनका यह शासन मुझे तो असह्य हो जाता है।

मास्टर साहब—पर क्या तुमने यह भी सोचा है कि किन भावों से प्रेरित होकर वे तुम पर ये अत्याचार कर रहे हैं ?

नरेन्द्र—उनके मन की बात को मैं कैसे समझूंगा ? पर मुझे तो यही जान पड़ता है कि वे अपना गौरव और प्रभुत्व हम पर स्थापित करना चाहते हैं। क्या हम लोग इतना भी नहीं समझ सकते कि हम लोगों के लिये क्या अच्छा है और क्या बुरा ?

मास्टर साहब—मैं भी सूँँ कि तुम किसे अच्छा कहते हो और किसे बुरा ? जरा मुझे भी तो समझाओ ?

नरेन्द्र—बस यही तो आप लोगों के पास, हम लोगों को निरुत्तर करने के लिये एकमात्र शस्त्र है—ज्ञान की गुरुता । पर हम लोगों के जीवन में एकमात्र ज्ञान ही काम नहीं करता, भाव भी काम करता है । मैं भले ही यह न समझा सकूँ कि मनुष्यों के जीवन में ज्ञान कितना काम करता है पर उन दोनों के अस्थित्व में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता । यही नहीं, कभी ज्ञान पर भाव विजय प्राप्त कर लेता है और कभी भाव पर ज्ञान ।

मास्टर साहब—तुम्हारा कहना यथार्थ है । यह बिल्कुल ठीक है कि तरुणावस्था में भाव की प्रधानता रहती है और वृद्धावस्था में ज्ञान की, जो अनुभूति का फल है । तभी तो हम लोग तुम लोगों के संबंध में संशयशील रहते हैं । तुम्हें जो अच्छा लगता है उसी को अच्छा मानकर तुम निश्चित हो जाते हो, पर हम लोगों ने अपनी अवस्था की वृद्धि के साथ पद-पद में जिन आघातों का अनुभव किया है उन्हीं के कारण हमें अब ऐसा जान पड़ता है कि हम जीवन भर भूलें ही करते आये हैं ।

नरेन्द्र—तो वे ही भूलें हमें भी करने दीजिये, हमें भी अपनी भूलें अपने अनुभवों से समझने दीजिये ।

मास्टर साहब—तो क्या गुरुजनों की आज्ञा न मानकर तुम वैसी भूलें नहीं कर रहे हो ? सच्ची बात यह है कि अपने

गुरुजनों के सभी आदेशों के प्रति तुममें एक अवज्ञा का ही भाव है। वे चाहे कितना भी आदेश क्यों न दें, तुम करते वही हो जो तुम चाहते हो। तुम जिसे अपनी स्वतंत्रता की बाधा समझ रहे हो वह यथार्थ में बाधा नहीं है, क्योंकि उससे तुम्हारे मार्ग में कोई रुकावट नहीं आती। तुम केवल आत्म-प्रशंसा चाहते हो।

नरेन्द्र ने कहा—यह बात नहीं है। यह सच है कि भावों को प्रेरणा से हम लोग जानबूझकर कुछ ऐसे काम करते हैं जो कोई भी बृद्ध नहीं कर सकता। पर ठीक इसी तरह ज्ञान की प्रबलता होने पर कुछ लोग भावों को सर्वथा तिलांजलि दे डालते हैं। उनके ज्ञान की दृष्टि से जो पाप या कुत्सित प्रतीत होता है, वह भाव के लिये स्पृहणीय होता है। इसी प्रकार ज्ञान की दृष्टि से जो एकमात्र कर्तव्य माना जाता है वह भाव के लिये अत्याचार और अन्याय हो जाता है। जिसकी कर्तव्य-निष्ठा में स्नेह का तिरस्कार और सहानुभूति का पराभव है, जिसकी न्याय-निष्ठा में अपराध क्षन्तव्य ही नहीं है; ऐसे ज्ञान के उपासकों द्वारा हम सबे सद्भाव से आत्म-प्रशंसा नहीं, दया नहीं, केवल सहिष्णुता चाहते हैं, जो सच्ची सहानुभूति से प्रकट होती है। उसी के अभाव में हमें गुरुजनों के शासन असह्य हो जाते हैं।

मास्टर साहब—तुम जो कुछ कर रहे हो उसका एकमात्र कारण यह है कि गुरुजनों के प्रति न तुम्हारी श्रद्धा है और न विश्वास। वर्तमान युग में क्रांति की जो भावना फैल रही है उसी के कारण सभी नवयुवकों के हृदय में विद्रोह का यही भाव

जाग्रत हो गया है। युद्धकाल में सैनिकों में एक पाशविक जिज्ञासा की प्रवृत्ति हो जाती है, वही प्रवृत्ति तुम लोगों में भी जाग उठी है; इसीलिये क्रांति की इस आंधी में चारों ओर जो धूल उड़ रही है; उसी को एक मात्र सच मानकर तुम उसी में लिप्त हो रहे हो और यह मान रहे हो कि यही जीवन है। जैसे क्रांति की आंधी आती है उसी तरह हम लोगों के जीवन में भी वासना की आंधी आती है। यह क्षण भर जीवन के सभी व्यापार को अस्त-व्यस्त कर जाती है। जब निकल जाती है तभी हम जीवन की यथार्थ अवस्था को समझ सकते हैं। यही कारण है कि जो वयोवृद्ध हैं उनके उपदेश और आदेश अप्रिय होने पर भी ग्राह्य हैं। यह बात तुम अभी नहीं, कुछ समय के बाद स्वयं स्वीकार कर लोगे।

(४)

नरेन्द्र ने कहा—क्या आप जानते हैं कि नांदगांव के स्कूल में एक लड़के ने एक लड़की के पास प्रेम-पत्र लिखकर दण्ड पाया है ?

मास्टर साहब—तो क्या तुम्हारी दृष्टि में वह दण्डनीय नहीं था ?

नरेन्द्र—मैं जानता हूँ कि हम लोगों के समाज में शील और नीति की जो मर्यादा है उसका उसने अवश्य अतिक्रमण किया है, पर यदि विचार किया जाय तो सचमुच उसने दण्ड पाने योग्य अपराध नहीं किया है। सौंदर्य की ओर यदि किसी

के हृदय में आकर्षण हो तो क्या वह अपराध है ? यदि उस आकर्षण के कारण उसके हृदय में उसे अपनाने की लालसा हो तो क्या वह अनुचित है ? उसने लड़की से प्रेम की याचना की तो की, उसने उसपर किसी तरह का अत्याचार तो नहीं किया । लड़की उसकी प्रेम-याचना स्वीकार न करे—यह उसके मन की बात है; पर लड़के ने अपना प्रेम प्रकट कर कौनसा अपराध किया ? यदि वह घृणा और विद्वेष प्रकट करता तो आप भले ही उसे दण्ड देते ।

मास्टर साहब—तो क्या तुम अपनी सौंदर्योपासना के भाव से प्रेरित होकर किसी भी नारी का अपमान करोगे ?

नरेन्द्र—अपमान कैसा ? प्रेम तो अपमान नहीं है, वह तो आदर का सूचक है ।

मास्टर साहब—प्रेम कह कर तुम अपनी वासना को उज्ज्वल रूप देने की चेष्टा मत करो । जैसे तुम प्रेम कह कर उसे आदर की वस्तु समझते हो, वैसे ही दंड को संयम की शिक्षा समझकर यह भी मान लो कि हम लोग उसे तुम लोगों के कल्याण के ही लिये देते हैं । मैं तो जानता हूँ कि क्रान्ति की भावना लेकर तुम लोगों ने विद्रोह को ही एकमात्र कर्तव्य समझ लिया है । अब प्राचीन मर्यादा और आदर्शों के प्रति न तुम लोगों में श्रद्धा है और न भक्ति । तुममें केवल वासना की लोलुपता है और उसी को स्वाभाविक समझकर तुम लोग जो बात अत्यन्त लज्जाजनक है उसके लिये एक मिथ्या गौरव प्रकट करते हो ।

नरेन्द्र ने कहा - मैं मान लेता हूँ कि आपके पुनीत आदर्शों से ही समाज का यथार्थ कल्याण है, पर आप यह तो सचसच बतलाइये कि आपकी इन सारी व्यवस्थाओं के रहते हुये भी अधिकांश लोग किस पथ का अनुसरण कर रहे हैं ?—वासना के ही वशीभूत हैं तो उन आदर्शों से क्या लाभ जो प्रतिदिन तोड़े जाते हैं ? ऐसी व्यवस्थाएँ क्यों न निर्मित हों जो हमारे स्वभाव के अनुकूल हों। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि जीवन में कभी किसी एक आदर्श की रचना हो नहीं सकती। आज तक कितने ही धर्मशास्त्र बने, कितने ही नीति शास्त्रों की रचना हुई, पर मनुष्य जाति ने किसी भी एक आदर्श को स्वीकार नहीं किया। सच्ची बात तो यह है कि सभी अपने जीवन में अपने अपने लिये एक विशेष पथ बना लेते हैं। जब तक नीति के अनुशासन और धर्म की मर्यादा किसी के जीवन-पथ के विरुद्ध नहीं है, तब तक वह उन्हें स्वीकार करता है, पर ज्योंही उनके द्वारा उसके जीवन में किसी प्रकार का आघात पहुँचा, वह नीति, समाज, धर्म सभी की सीमाओं को भंग कर डालता है। वृद्धजन संयम और तपस्या की प्रशंसा भले ही करते रहें, पर पुराण में भी ऐसी कथाएँ प्रसिद्ध हैं कि वृद्ध तपस्वी भी वासना के वशीभूत हो जाते हैं। ऐसी स्थितियों में उचित यह है कि मनुष्यों के लिये ऐसा नव विधान निर्मित हो जिसके विरुद्ध वह जा ही न सके। मिथ्या शील, मिथ्या लज्जा और मिथ्या गौरव के भाव लेकर हम लोगों ने अपने जीवन को मिथ्या बना

बाला है, इसीलिये हम 'कहते कुछ हैं सोचते कुछ हैं और करते कुछ हैं।' पाप के मिथ्या भय के ही कारण संसार में दुराचार के जो बीभत्स कर्म होते हैं, वे धर्म का व्यवधान न रहने पर एकदम बंद हो जायेंगे। वासना को कुत्पित न समझकर यदि हम उसे स्वाभाविक समझते और उसे संयत करने के लिये इतने विधि-विधान की रचना न करते, तो संसार में व्यभिचार की इतनी लीलाएँ भी न होतीं और भ्रूण हत्याएँ भी न होतीं।

मास्टर साहब—तभी तो धर्म का पथ दुर्गम कहा गया है। अधर्म का पथ सुगम है, इसीलिये अधिकांश लोग उसे स्वीकार करते हैं। यदि गरिमा की प्राप्ति में कठिनाई नहीं रहती तो तुम्हीं क्यों अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये इतना प्रयास करते। ज्ञान के उच्च शिखर पर पहुँच कर लोग अपने ज्ञान की अल्पता का अनुभव करते हैं। तपस्या से विरत तपस्वी वासना की दुर्दमनीयता का अनुभव करता है; पर इसीलिये वह स्पृहणीय नहीं हो सकती। तुम्हारी ये बातें इस नवयुग की प्रतिध्वनि हैं, यह मैं जानता हूँ। जीवन की किसी एक बात को प्रधानता देने से हमें यह फल प्राप्त होता है। धर्म को जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाकर विधि-विधानों की जो रचना हुई, उनमें पड़कर हम अपनी शक्ति खो बैठें और अर्थ को प्रधानता देकर हम अपना मनुष्यत्व खो बैठेंगे। जीवन की सम्पूर्णता के लिये धर्म, अर्थ और काम के साथ मोक्ष की भी भावना चाहिये। जीवन में उदारता, सहिष्णुता, सहानुभूति, त्याग और संयम न रहने पर

मनुष्य पशु से भी अधिक भयानक हो जाता है और उसी स्थिति को, तुम्हारी धर्म-विहीन स्वतंत्रता की यह भावना, तुम्हें ले जायगी ।

(५)

नरेन्द्र—मास्टर साहब, आप अभी तक यहीं हैं ? आप तो एक स्थान में अधिक दिनों तक नहीं रहते । यहां कैसे रह गये ?

मास्टर—क्योंकि अभी तक इस स्थान ने मुझे नहीं छोड़ा है । आजकल तुम लोगों की क्रांतिकारिणी सभा क्या कर रही है ?

नरेन्द्र—घर की चिन्ताओं में व्यस्त रहने के कारण अब तो मैं कोई दूसरा काम ही नहीं कर सकता । पिताजी अब रहे नहीं, सारा उत्तरदायित्व मुझी पर है ।

(६)

विपिन सोचने लगा—सत्य की भावना गृह-चिन्ता में ही है । तभी तो उसके लिये सब कुछ त्याग करना पड़ता है ।

तीसरा अध्याय

विपिन चिन्ता में लीन था । उसे याद आया कि कभी वह कल्पना में लीन रहता था । अब उसे कल्पना से संतोष नहीं है । अब वह यथार्थ जगत को दृढ़तापूर्वक स्वायत्त करना चाहता है । अथ ऐहिक कामनाओं में भी उसने अपने को बद्ध कर लिया है । उसका संसार बिलकुल संकीर्ण हो गया है । पर उसी में वह जीवन की सार्थकता समझता है । इसी से वह उसी की चिन्ता में मग्न

रहता है। यही चिन्ता उसे सुख देती है, स्फूर्ति देती है, नव शक्ति देती है। वह भीतर और बाहर एक परिवर्तन का अनुभव कर रहा है। जो पहले तुच्छ था, वही अब उसे महत् प्रतीत हो रहा है। जिनका उसने पहले तिरस्कार किया था, उन्हीं को अब वह अपनाना चाहता है। जो लोग पहले उसे ढूँढते थे उनको वह ढूँढता है। जिनका आदरपात्र वह था, उनका अब वह कृपा-पात्र होना चाहता है।

(२)

प्रभात ने कहा—मैं आजकल सदैव तुम्हें चिन्तित देखता हूँ।

विपिन—चिन्ता ही तो जीवन है। पिता हूँ इसलिये पुत्रों और कन्याओं की चिन्ता करता हूँ; गृहस्थ हूँ इसलिये गृह की चिन्ता में मग्न रहता हूँ; मास्टर हूँ इसलिये छात्रों की चिन्ता करता हूँ।

प्रभात—इसके अतिरिक्त भी यदि तुम कुछ हो तो तुम क्या उसकी चिन्ता नहीं करोगे ?

विपिन—सच पूछो तो इसके अतिरिक्त भी यदि मैं कुछ हूँ तो उसका तुझे ज्ञान ही नहीं, इसीलिये मैं उनकी चिन्ता भी नहीं करता।

प्रभात—क्या तुम्हें यह भी ज्ञान नहीं है कि तुम मनुष्य हो ? तुमने अपने मनुष्यत्व की भी क्या कभी चिन्ता की है ?

विपिन—मनुष्यत्व तो ईश्वर-प्रदत्त गुण है, उसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं।

(२८६)

(३)

विपिन—संसार में अर्थ का कितना महत्व है, यह मैं अब समझ सका ।

प्रभात—संसार में अर्थ की चिन्ता से मनुष्य कितना पतित हो सकता है, यह मैं अब समझ सका ।

विपिन—तुम चाहे मानो या न मानो पर यह बात सच है कि मनुष्य को उच्च या नीच बनाती है उसकी आर्थिक स्थिति । सदाचार की बड़ी महिमा अवश्य बतलाई जाती है, इसी से बाल्यकाल से ही हमें सुनीति की शिक्षा दी जाती है । पर संसार में प्रविष्ट होते ही हम दुर्नीति का अनुभव करते हैं । धन और प्रभुत्व में सबसे अधिक दुराचार निहित होने पर भी वे ही प्रतिष्ठा और सुख के साधन हैं ।

प्रभात—यदि यही तुम्हारा सच्चा विश्वास रहता तो तुम स्वयं अर्थ की चिन्ता में न पड़ते । धन को दुराचार का मूल मानकर भी तुम उसी के द्वारा प्रतिष्ठा और सुख पाने के लिये इच्छा न करते । बात यह है कि स्वयं प्रतिष्ठा और आदर न पाने के कारण तुम यह समझ रहे हो कि जो लोग प्रतिष्ठा और सुख का भोग कर रहे हैं उनमें यथार्थ गौरव नहीं है । इसीसे उन्हें हीन बतला कर तुम अपने हृदय में एक कल्पित गौरव का अनुभव करना चाहते हो ।

विपिन—जिन्हें अर्थ का कष्ट नहीं है वे यह अनुभव ही नहीं

कर सकते कि ऐसे लोग भी हैं जो अभाव के कष्ट के कारण अपना सारा गौरव जान-बूझ कर नष्ट कर डालते हैं ।

प्रभात—यदि कोई अभावों के कष्ट के कारण अपना गौरव खाता है, तो ऐसे लोग भी संसार में हैं जो अपनी धन-वृद्धि के प्रयास में कितने ही नीच काम कर डालते हैं । यथार्थ में नीचता और गौरव का संबंध अर्थ से नहीं मन से है ।

विपिन—हम लोग परिस्थिति के दास हैं । परिस्थिति के विरुद्ध हम लोग कुछ नहीं कर सकते । कम से कम मुझ में तो इतनी शक्ति नहीं है कि मैं अपनी प्रतिकूल परिस्थिति को अनुकूल बना सकूँ ।

प्रभात—मनुष्यों में सबसे बड़ा दोष है आत्म प्रवंचना । यह कह कर तुम जानबूझ कर अपने को धोखा देना चाहते हो । तुम्हें इस आत्म प्रवंचना से एक सन्तोष हो जाता है । अपनी सभी बातों का उत्तरदायित्व किसी अलक्षित अथवा कल्पित परिस्थिति को सौंपकर तुम मानों चिन्ता-मुक्त हो जाना चाहते हो ।

विपिन—जब तक ज्ञान नहीं होता है, तब तक आत्म प्रवंचना से ही मन बहलाना पड़ता है ।

प्रभात ने कहा—आज कल तुम्हारे स्कूल के संबंध में यहां खूब चर्चा है । सुनता हूँ कि तुम लोग अपनी-अपनी आत्म परीक्षा कर अपने-अपने दोषों का उद्घाटन कर रहे हो ।

विपिन—तो इसमें अनौचित्य क्या है ?

(२८८)

प्रभात--अनौचित्य तो कुछ नहीं है । बात यह है कि अभी तक संसार में ऐसे कम लोग हैं जो अपने दोष को दोष समझते हैं ।

Would to God the gift to give us,

To see ourselves as others see us.

इसलिये तुम लोगों का पर्यास स्तुत्य है ।

विपिन--मेरा तो यह विश्वास है कि दोषों की समीक्षा से दोष दूर नहीं हो सकते । मुझमें एक नहीं कितने ही दोष होंगे, पर अब इस अवस्था में उन दोषों को लेकर ही मुझे परलोक की यात्रा करनी पड़ेगी । इसके अतिरिक्त मैं तो यह मानता हूँ कि किसी में दोष गुण हो जाते हैं और किसी में गुण भी दोष हो जाते हैं ।

(५)

प्रभात--तब लोग निंदा क्यों करते हैं ?

विपिन--तब लोग किसी की प्रशंसा क्यों करते हैं ? जिस भाव से प्रेरित होकर लोग प्रशंसा करते हैं, उसी भाव से प्रेरित होकर वे निंदा भी करते हैं ।

प्रभात--मैं अच्छी तरह समझ नहीं सका । तुम तो यह एक पहेली-सी कह रहे हो ।

विपिन--निंदा और प्रशंसा तुम कहते किसे हो ? यदि किसी के संबंध में कोई ऐसी सच्ची बात कही जाय जो उसे अप्रिय हो तो क्या वह उसे निंदा नहीं समझेगा ?

प्रभात—नहीं, वह निन्दा नहीं है; वह तो आलोचना है।

विपिन—तुम्हारी दृष्टि से जो आलोचना है वह दूसरे की दृष्टि में निन्दा है, क्योंकि सत्य का ज्ञान तुम्हीं में तो परिमित नहीं है।

प्रभात—पर लोग प्रायः झूठी ही निन्दा करते हैं।

विपिन—तब तुम यह भी कहो कि लोग झूठी ही प्रशंसा करते हैं।

प्रभात—प्रशंसा केवल गुणों की ही की जाती है।

विपिन—जिनका हममें अभाव रहता है। बात यह है कि जो लोग झूठी प्रशंसा से सन्तुष्ट होते हैं, उन्हीं को झूठी निन्दा से असन्तोष होता है। मेरा तो यह विश्वास है कि जो लोग निन्दा या प्रशंसा करते हैं वे लोग स्वार्थवश ही यह काम करते हैं। इसीलिये मैं न तो निन्दा को ही महत्व देना चाहता हूँ और न स्तुति को ही।

प्रभात—तब यश के लिये कोई चेष्टा क्यों करता है ?

विपिन—संसार में किसी का यश ही तो रह जाता है, उसीसे जीवन की यथार्थ गरिमा प्रकट होती है। यश पर काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह सब कुछ ले जाता है, सिर्फ उसी को तो छोड़ देता है। वह यश प्रशंसा या स्तुति का फल नहीं है। जीवन-काल में हम लोग भले ही प्रशंसा के पात्र रहें, पर मृत्यु के बाद थोड़े ही दिनों में लोगों की वह प्रशंसा आपसे आप लुप्त हो जाती है। हम लोग तो केवल अपने मिथ्या अभिमान से ही प्रेरित होकर किसी की निन्दा या स्तुति करते हैं।

(२९०)

(६)

प्रभात—तुम मास्टर क्या हुये, वकील क्यों नहीं हुये ?

विपिन—क्योंकि वकील होने की क्षमता मुझमें नहीं थी ?

प्रभात—क्या मास्टर होने की क्षमता आप में है ?

विपिन—कुछ समय पहले मैं यह अवश्य समझता था कि मैं मास्टर होने की क्षमता रखता हूँ, पर अब यहाँ आने के बाद मुझे संदेह हो रहा है ।

प्रभात—अभी तक सिर्फ संदेह ही हो रहा है ?

विपिन—संदेह नहीं, विश्वास ही हो गया है जो बात यहाँ सभी लोग कह रहे हैं, उस पर अविश्वास भी कैसे किया जाय ?

प्रभात—तब यहाँ अपमान सहकर तुम पड़े क्यों हो ?

विपिन—मरने के लिये मुझे कोई स्थान ही नहीं मिलता । बरगोश की तरह भटक-फिर कर अब तो यहीं अपना अंतिम समय व्यतीत करने आया हूँ ।

प्रभात—इससे तो यह जान पड़ता है कि तुम अपना स्वाभिमान भी खो बैठे हो ।

विपिन—यह तुम्हारी भूल है । स्वाभिमान किसी भी स्थिति में लुप्त नहीं होता । हम सभी यह समझते हैं कि यथार्थ गौरव हमी में है; अन्यलोग केवल हमारी गौरव-वृद्धि के लिये ही हैं । यह समस्त प्रकृति ही हमारे उपयोग के लिये है । सूर्य हमारे लिये ही उदित होता है, चन्द्रमा हमारे लिये ही अपनी च्योत्सना फैलाता है और वसुन्धरा अपना सारा वैभव हमारे

लिये ही बिखराती है। तब मैं यह कैसे कहूँ कि मुझमें स्वाभिमान नहीं है ?

प्रभात—यदि तुममें आत्माभिमान रहता तो यह बात तुम निस्संकोच कैसे कह देते कि मास्टर होने की योग्यता न रखकर भी केवल जीवन-निर्वाह के लिये मैं यहाँ पड़ा हुआ हूँ।

विपिन—यही तो स्थिति की प्रतिकूलता है। यदि संसार के गौरव पर दूसरों का अधिकार है, यदि अन्य लोगों में अधिक योग्यता और क्षमता है, तो हम लोग अपने मन में यही अनुभव कर अपने अभिमान की रक्षा कर लेते हैं कि स्थिति हमारे प्रतिकूल है। उसीसे हम बार-बार पराभूत होते हैं और चुपचाप लांछना और अपमान सह लेते हैं। जहाँ बाहर कहीं गौरव नहीं है, वहाँ हम भीतर गौरव देख लेते और जहाँ बाहर गौरव है, वहाँ हम हीनता का अनुभव कर लेते हैं। अपनी इसी अनुभूति के कारण हम अपने सुख-दुःख को विश्व-वेदना से संबद्ध कर लेते हैं। इसी के कारण क्षुद्र जीवन के क्षुद्र कार्यों में आजीवन व्यस्त रहकर हम विश्वभर की पीड़ा से सहानुभूति करने के लिये अपने हृदय में विश्व-वेदना जाग्रत कर लेते हैं।

प्रभात—यह तो कल्पना है; कल्पना से यथार्थ जीवन में सन्तोष नहीं हो सकता।

विपिन—अपने गौरव के लिये सभी लोग कल्पना का ही आश्रय लेते हैं। उच्च पद पाकर जो लोग अपने में प्रभुत्व और शक्ति का अनुभव करते हैं, वे क्या नहीं समझते कि सचमुच न

प्रभुत्व है न शक्ति । यथार्थ प्रभुत्व और शक्ति तो उस पद में है जिस पर कोई आकर बैठ जाता है । रथ यात्रा के समय में भक्तजन जिसको मान देते हैं उसे चाहे रथ स्वीकार कर ले या मूर्ति या पथ ही अपने को उस मान के योग्य मान ले; पर यथार्थ मान का पात्र तो कोई दूसरा ही रहता है ।

प्रभात—गौरव की कल्पना कर क्या तुम अपने को उन बातों से बचा सकते हो, जो तुम्हारे बिरुद्ध दूसरों से कही जाती हैं ?

विपिन—ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो अपनी बुद्धि को किसी से हीन समझता है ? तभी तो हम दूसरों की प्रशंसा तो निस्संकोच स्वीकार कर लेते हैं और निन्दा को मिथ्या कहकर उसका तिरस्कार करते हैं । संसार का तो यह साधारण नियम है । हम अपनी ही इच्छा के अनुसार नीति के अनुशासन और धर्म की मर्यादा तक को स्वीकार करते हैं । हम अपनी इच्छा के अनुसार बन्धन बनाते हैं और उन्हें तोड़ते भी हैं । नियमों से बद्ध तो केवल प्रकृति है । इसीलिये सभी प्रकार के सुख-दुःखों को हम लोग स्वीकार कर लेते हैं और सभी स्थितियों में अपना जीवन व्यतीत करते हैं ।

प्रभात—अपनी ही गाथा गाने में एक मिथ्या अभिमान रहता है; उसमें कोई गौरव नहीं होता और न उसमें सत्यता ही रहती है । हम सभी लोगों के लिये अलग-अलग संसार होता है, जिसमें हम लोग स्वयं नायक होते हैं । जो लोग हमारी

स्वार्थसिद्धि में बाधक होते हैं, जो हमारे मन के अनुसार नहीं चलते, जिनसे हमें किसी प्रकार का लाभ नहीं होता, उन सभी को अपने प्रतिकूल समझकर हम लोग चाहते यह हैं कि सब कुछ हमारी इच्छा के अनुकूल हो। हमारी इच्छा के विरुद्ध काम होने पर अथवा फल पाने पर यह संसार हम लोगों को अन्धकारमय प्रतीत होने लगता है। हम लोग जितनी अच्छी तरह दूसरों की बुराइयाँ और दोष देख सकते हैं, उतनी ही अच्छी तरह हम अपनी महिमा और गुण को देख सकते हैं। ज्योंही किसी बात से हमें किसी तरह की हानि होती है, त्योंही हम दूसरे को शत्रु समझकर किसी न किसी को उनके दोष सुनाने के लिये व्यग्र हो जाते हैं। जब हम लोग अपनी बात किसी को सुनाने बैठते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि सारा संसार हमारे विरुद्ध एक षडयन्त्र रच रहा है और उसके विरुद्ध हम अकेले लड़ रहे हैं। अपनी नैराश्यजनक स्थिति के वर्णन से दूसरों को यह सुनाना चाहते हैं कि संसार कपट, छल और अन्याय का क्षेत्र है।

मास्टर साहब—यदि हम ऐसा करते हैं तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है? तभी तो हमें एक सान्त्वना मिलती है। अपने को ही यदि हम अपनी असफलता का कारण मान लें तो हमें सन्तोष कैसे होगा? जब मनुष्य सचमुच हताश हो जाता है, जब उसका संसार सचमुच नष्ट हो जाता है अथवा जब वह यह समझने लगता है कि उसका संसार नष्ट हो गया, तब वह जीवित भी नहीं रह सकता। विषम यन्त्रणा सहकर और मृत्यु

की कामना कर हम लोग जो जीवित रहते हैं, तो उसका कारण यह है कि हमें दुःख में भी सान्त्वना मिल जाती है। जीवन के साथ सुख है, आशा है, प्रकाश है और एक मोह भी है। हम लोग चाहे अपने कष्टों का कितना ही अतिरंजित वर्णन क्यों न करें, हम अपनी हीनावस्था में भी सुख, संतोष, आशा और प्रकाश का अनुभव कर लेते हैं। इसका कारण मोह भले ही हो पर वह मोह हम लोगों के लिये संसार के किसी भी सत्य से अधिक सच है।

(८)

प्रभात ने कहा—संसार में जो सबसे अधिक मिथ्या नीति प्रचलित है वह यही है कि हम लोग समझते हैं कि हम किसी पर दया प्रदर्शित कर सकते हैं, हम किसी पर उपकार कर सकते हैं ! दया, कृपा और उपकार से यही प्रकट होता है कि एक ओर उच्चता का अभिमान है और दूसरी ओर दैन्य की नीचता है। जहाँ अनुराग है वहाँ उच्च-नीच के भाव नहीं रहते। मास्टर साहब, आप उपकारों की महिमा क्यों गाते फिरते हैं ?

मास्टर साहब—किसी भी प्रकार की सेवा न कर जब मैं किसी से उपकृत होता हूँ, तब मैं तो उसमें एक गरिमा का अनुभव करता हूँ। यदि काशीबास से कबीर को मुक्ति मिली तो उसमें भगवान की कृपा ही क्या है ? वह तो लेन-देन का व्यवहार है। और लेन-देन में एक-एक पाई का हिसाब देना पड़ता है। यही नहीं लेन-देन में सदैव असन्तोष रहता है। विभीषण की

सेवा और भक्ति के लिये रावण का ऐश्वर्य दे डालने पर भी भगवान रामचन्द्र को सन्तोष नहीं हुआ, पर अजामिल अथवा गणिका को मुक्ति धाम देने पर भगवान को अवश्य सन्तोष हुआ होगा ।

प्रभात—यह सब कोरी भावुकता है । संसार में कामों की महत्ता है । हम जो काम करते हैं उसका हमें ठीक मूल्य मिलना चाहिये । संसार में जो लोग अधिक से अधिक काम कराकर कम से कम मूल्य देते हैं, वहाँ सम्पत्ति को स्वायत्त कर लोकोपकार करने का दंभ करते हैं । जो श्रीमान किसी सत्कार्य में दान के रूप में लाखों की सम्पत्ति देते हैं उनके भी कार्यों का मैं समर्थन नहीं कर सकता । उसमें भी महत्त्व का मिथ्या प्रदर्शन रहता है । संसार में लेन-देन का सच्चा व्यवहार होना चाहिये ।

मास्टर साहब— यह मैं जानता हूँ कि संसार में प्रायः लेन-देन का ही व्यवहार होता है । इसमें आवश्यकता के अनुसार काम का मूल्य कभी बढ़ जाता है, कभी घट जाता है । इतना ही नहीं, अभी तक यह भी देखा गया है कि एक ही काम का भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न फल मिलता है । सभी अपने-अपने कामों को महत्त्व देकर दूसरों के कामों में दोष ही निकालते हैं । संसार के कार्य-क्षेत्र में एक काम करता है और दूसरा काम कराता है । कोई प्रभु होता है और कोई भूत, कोई सेव्य होता है और कोई सेवक, कोई बड़ा होता है और कोई छोटा—सभी का न एक सा पद होता है और न सभी का एक सा काम होता है ।

पर जहाँ सेवा का विचार ही नहीं है, जहाँ आवश्यकता की भी चिन्ता नहीं है, वहाँ एकमात्र मनुष्यत्व का ही विचार होता है। वहीं दाता और गृहीता दोनों को ही संतोष है, वहीं किसी को देने में सुख होता है और किसी को लेने में सुख होता है।

प्रभात—तभी आप अपनी क्षुद्रता, हीनता और नीचता को बार-बार प्रकट करने में एक उल्लास का अनुभव करते हैं।

मास्टर साहब—सच्ची बात है, क्योंकि मेरी क्षुद्रता से दूसरों की महत्ता प्रकट होती है, तभी संसार में वस्त्र गुणों का विकास होता है।

प्रभात—कैसे ?

मास्टर साहब—मेरा विश्वास है कि न तो मनुष्य की क्षुद्रता की सीमा है और न उसकी महत्ता की। क्षुद्र को क्षुद्र जानकर भी जो महत्ता देता है, उसमें एक महत्ता अवश्य है। जो महान हैं उनको स्वयं महत्ता की आवश्यकता नहीं। दिये को प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। प्रकाश तो अन्धकारमय निशाकाल के लिये है। इसलिये जिस सहानुभूति और उदारतापूर्ण व्यवहार से मनुष्य की अन्तर्ज्योति विकसित होती है और जिसमें किसी अन्य के कष्ट और दुख से पूर्ण जीवन के अन्धकार में प्रकाश आता है, उस पर क्षुद्रों का भी अधिकार है।

प्रभात—आपको अपनी क्षुद्रता बड़ी प्रिय है !

मास्टर साहब—वह मुझे अप्रिय कैसे होगी ? क्षुद्र होने पर भी मैं अपने इस जीवन का तिरस्कार नहीं कर सकता। अपने जीवन

मैं मैने अनादर के साथ मान भी पाया है, उपेक्षा के साथ स्नेह का भी अनुभव किया है, विरक्ति के साथ श्रद्धा भी ग्रहण की है। मैं अपनी सेवा का गर्व नहीं कर सकता, पर स्नेह और सहानुभूति का गर्व अवश्य कर सकता हूँ, जो अभी तक पाता आया हूँ। कष्ट का मूल्य देकर ही हम लोग सहानुभूति पाते हैं और वेदना के द्वारा ही हमें स्नेह की निधि मिलती है। जहाँ कष्ट नहीं, जहाँ वेदना नहीं, वहाँ स्नेह और सहानुभूति भी नहीं है। यही दो भाव तो हमारी उन्नति करते हैं।

चौथा अध्याय

(१)

विपिन यह अनुभव करने लगा कि अब तो यह अन्तिम दौड़ है। इसी दौड़ में उसे अपने जीवन का पुरस्कार मिल जायगा। अब वह जान लेगा कि उसके जीवन का यथार्थ लक्ष्य क्या है ? संसार में जिसे कष्ट कहते हैं, वेदना और दुःख कहते हैं, उनका अनुभव कर उसने देख लिया कि उनमें कितनी तीव्रता है। संसार में जिसे सुख कहते हैं उसका उपभोग कर उसने जान लिया कि उसमें कितना स्थायित्व है। संसार में जिसे प्रेम, स्नेह और मैत्री कहते हैं, उसका परिचय पाकर उसने समझ लिया कि उसमें कितना रस है। अपमान और मान, निन्दा और स्तुति, विद्वेष और सहानुभूति से भी वह अपरिचित नहीं है। उसमें कितना सार है यह भी उससे छिपा न रहा। सभी स्थितियों का अतिक्रमण कर वह अपने जीवन के छोर तक पहुँच गया है। पर

अभी तक वह अपने जीवन का लक्ष्य नहीं देख सका । अभी तक वह उसके पास नहीं पहुँच सका । यह सच है कि अपने जीवन का अधिकांश काल उसने साहित्य और शिक्षा के क्षेत्रों में व्यतीत किया है । उनमें काम कर उसने अपना जीवन-निर्वाह तो अवश्य किया है, पर यदि कोई उसे अपने जीवन का हिसाब देने को कहेगा तो वह अपने किन कामों की सूची तैयार करेगा ?

(२)

रमेश ने कहा—यदि आप साहित्य के क्षेत्र में लगे रहते तो आप जीवन-निर्वाह के साथ साहित्य की भी सेवा करते ।

विपिन—अर्थ-सिद्धि या स्वार्थ-सिद्धि या जीवन-निर्वाह के लिये जो कुछ भी काम किया जाता है, वह अन्य व्यवसायों की तरह व्यवसाय ही है । क्या अध्यापन कार्य, क्या साहित्यिक कार्य दोनों ही व्यवसाय हैं । साहित्य-सेवा कह कर हम भले ही अपने मन में अपने रचना-कार्यों के लिये एक गौरव का अनुभव कर लें, पर यथार्थ में गौरव की यह अनुभूति काल्पनिक है । प्राचीन काल में गुरु जिस महिमा के पद पर आसीन था, उसका उपभोग अब मास्टर नहीं कर सकते । उसी प्रकार साहित्य-सेवा कहला कर लेखक सेवा के यथार्थ गौरव को नहीं पा सकते ।

रमेश—तब आप साहित्यसेवी के लिये और कौन नाम देना चाहते हैं ।

विपिन—मेरे एक छात्र ने मुझे एक बार बतलाया कि जबलपुर के एक विद्वान् अध्यापक का मेरे सम्बन्ध में यह कहना

है कि आजकल मैं अपना साहित्यिक ज्ञान बेच रहा हूँ ।

उन्होंने यह बात चाहे जिस भाव से कही हो पर इसकी सत्यता में कोई संदेह नहीं है । साहित्य के क्षेत्र में प्रकाशकों से कुछ पाने की इच्छा से जो कुछ लिखा जाता है, वह अपने इस कार्य के लिये रुपये ही तो पाता है । अतएव अच्छे और खराब कपड़े बेचकर बजाज जैसे ग्राहकों से रुपये कमाता है, वैसे ही लेखक भी अपनी अच्छी या बुरी रचनाओं को बेचकर रुपये ही पाते हैं । ठीक उसी तरह हम छात्रों को पढ़ाकर भी रुपये ही लेते हैं । इन दोनों कामों को मैं सेवावृत्ति ही समझता हूँ और जो लोगों में यह कहावत प्रसिद्ध है कि खेती उत्तम है, वाणिज्य मध्यम है और सेवावृत्ति अधम है, वह इन अध्यापन-कार्यों और साहित्यिक-कार्यों में भी चरितार्थ होती है ।

(३)

रमेश—हिन्दी-साहित्य की वर्तमान स्थिति ऐसी है कि अधिकांश लेखक उसमें काम कर यथेष्ट लाभ नहीं उठा पाते । क्या आप समझते हैं कि ऐसी स्थिति में साहित्य की उन्नति हो सकती है ?

विपिन—साहित्य की उन्नति अर्थ की प्राप्ति पर निर्भर नहीं है । सच्ची बात तो यह है कि जो साहित्य का निर्माता है वह कष्ट में ही सत् साहित्य का निर्माण करता है । अर्थप्राप्ति के लिये जो कुछ भी लिखा जाता है वह प्रायः लोकप्रिय साहित्य होता है । अपनी रचना के द्वारा कम या अधिक पाना एक विशेष

स्थिति पर निर्भर है, उसमें कोई हीनता नहीं है। अर्थ-कष्ट होने पर सभी स्थितियों में लोगों को निर्वाह करना पड़ता है। गोल्ड स्मिथ को यदि अर्थ-कष्ट में पड़ कर अपनी रचनाएँ कम मूल्य में भी बेचनी पड़ीं, तो उससे उसकी रचनाओं की महत्ता कम नहीं हुई। हिन्दी-साहित्य की वर्तमान दशा में एक ऐसी बात अवश्य है जो किसी प्रकार अच्छी नहीं कही जा सकती।

रमेश ने पूछा—वह क्या ?

विपिन—साहित्य के क्षेत्र में मैं ऐसे लोगों को जानता हूँ, जिन्होंने स्वयं कुछ कार्य न कर प्रकाशकों से यथेष्ट रुपये प्राप्त किये हैं। हिन्दी में ऐसे विज्ञों का भी अभाव नहीं है जो एकमात्र अपने उच्च पद के कारण अच्छा लाभ उठा रहे हैं। प्रकाशक जानते हैं कि ऐसे कौन लोग हैं, जिन्हें किसी प्रकार तुष्ट कर देने से उनका अभीष्ट सिद्ध हो जाता है।

(४)

रमेश—साहित्य के क्षेत्र में आत्म-विज्ञापन की भी आवश्यकता होती है। तभी किसी लेखक की रचनाएँ लोकप्रिय होती हैं। इसके लिये यह आवश्यक है कि लेखकों के संबंध में विज्ञापन के रूप में कुछ न कुछ अवश्य किया जाय। यही कारण है कि कितने ही सुप्रसिद्ध लेखकों के कुछ दल हो गये हैं। उनके कारण साहित्य-संसार में एक हलचल सी बनी रहती है। क्या आप इसे साहित्य के लिये अच्छा नहीं समझते ?

विपिन—एकमात्र अपनी कृति की लोकप्रियता के ऊपर निर्भर रहनेवाले साहित्यसेवी दो ही चार हैं। अधिकांश लेखकों में इतनी क्षमता नहीं है कि वे स्वयं कुछ कर सकें। यह बात सच है कि उच्च कोटि की रचना लिखने की क्षमता सभी में नहीं रहती। अतएव यदि वे किसी प्रकार का दल बनाकर अपना प्रभाव बढ़ा सकते हैं, तो इससे उनकी स्वार्थसिद्धि अवश्य हो जायगी। अभी तो अधिकांश लेखक प्रकाशकों के ही कृपा-पात्र होते हैं। यदि लेखक साहित्य का निर्माण करते हैं, तो प्रकाशक लेखकों का निर्माण करते हैं। साहित्य का संचालन-भार भी तो प्रकाशक पर ही है।

रमेश—यह तो स्पष्ट है कि गत ३४ वर्ष के भीतर हिन्दी-साहित्य में जो उन्नति हुई है उसके कारण अब हम लोग यह गर्व कर सकते हैं कि हमारा साहित्य भी खूब उन्नत हो गया है।

विपिन—हिन्दी-साहित्य में अभी तक सामयिक साहित्य की ही वृद्धि हो रही है। इसमें संदेह नहीं कि इस साहित्य के द्वारा जनता में जागृति आ गई है। पर सामयिक साहित्य की ही पुस्तकों की विपुल राशि देखकर यदि हम साहित्य की यथार्थ महिमा का अनुमान करना चाहेंगे तो हम भ्रम में पड़ जायेंगे। वाशिंगटन इरविंग नामक विद्वान का कथन है कि जितनी अधिक पुस्तकें बढ़ती जाती हैं, उतनी ही अधिक विचार-शून्यता और भाव-दरिद्रता आती जाती है। उनके इस कथन में अतिशयोक्ति भले ही हो पर यह सच है कि साहित्य का यथार्थ गौरव उन अल्पसंख्यक

रचनाओं में है, जो काल का आघात सहकर चिरकाल तक बनी रहती हैं। उन्हीं में सत्य का चिरन्तन रूप रहता है, जो देश और काल की सीमा का अतिक्रमण कर जाती है। जाति के लिये वही उत्तम निधि है जिससे जीवन में अलौकिक आनन्द की अनुभूति के साथ प्रेरणा भी मिलती रहती है। ज्यों-ज्यों काल व्यतीत होता है त्यों-त्यों उनकी महिमा बढ़ती जाती है। उन्हीं से यह प्रकट होता है कि परिवर्तनशील संसार में जीवन की वह कौन गरिमा है जो सभी कालों में स्थिर रहती है, भाव का वह कौन सौन्दर्य है जो चिरनवीन बना रहता है, कला की वह कौन रमणीयता है जो सदैव अक्षय रहती है।

रमेश—पर इसमें संदेह नहीं है कि हिन्दी-साहित्य में अब कितने ही श्रेष्ठ कलाकार हो गये हैं। उनकी कृतियों की प्रशंसा कितने ही विज्ञान कर रहे हैं।

विपिन—मेरी समझ में तो आधुनिक युग हिन्दी-साहित्य के लिये निर्माण-काल है। अभी उसमें सामयिक साहित्य की ही वृद्धि हो रही है। अभी यह कहना कठिन है कि आधुनिक युग की उच्चतम भावना किस कलाकार या कवि की वाणी से निकलेगी। लोगों में नवीनता की ओर एक विशेष आग्रह होने के कारण अभी कितनी ही नवीन रचनाएँ निकल रही हैं। यह भी सच है कि उनमें कुछ विशेष लोकप्रिय हो गई हैं। पर साहित्य के क्षेत्र में यह एक साधारण बात है कि कुछ समय के बाद कितनी ही प्रसिद्ध रचनाओं की लोकप्रियता आप से आप नष्ट हो

जाती है : हिन्दी साहित्य की इस अभिवृद्धि में एक बात की आशंका मैं अवश्य करने लगा हूँ ।

रमेश—वह क्या ?

विपिन—मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के विस्तार के साथ-साथ उसकी गरिमा कुछ लुप्त-सी हो रही है । मुझे कभी-कभी यह आशंका भी होती है कि आधुनिक प्रगतिशील साहित्य की वृद्धि से हमारे लिये भविष्य में ब्रज साहित्य लौकिक साहित्य न रहकर एकमात्र विज्ञों के गम्भीर अध्ययन और अनुसंधान का ही विषय न रह जाय । जो साहित्य अभी तक हिन्दू जाति के जीवन में मिलकर रक्त और मांस की तरह हम लोगों के हृदय में प्रविष्ट हो गया है, वह यदि पुस्तकालयों में विलीन होकर हम लोगों के जीवन से अलग हो जाय, तो क्या हम लोग सचमुच हिन्दू जाति के रूप में जीवित रह सकेंगे ?

रमेश—ब्रज साहित्य की ऐसी कौन सी विशेषता है जिसके कारण आप यह समझते हैं कि वह लौकिक साहित्य ही बना रहे ?

विपिन—विज्ञों के द्वारा उपेक्षणीय होकर भी राजनैतिक पराधीनता के युग में इसी ब्रज साहित्य ने हिन्दू जाति में उसके जातीय आदर्शों को अक्षुण्ण रखा । भारतवर्ष में मुसलमानों का आधिपत्य होने के बाद राजनैतिक क्षेत्र में कितने ही परिवर्तन हुए, कितने ही राज्यों का उत्थान हुआ, कितने ही युद्ध हुए, पर उन सबसे पृथक् और विरक्त रहकर हिन्दीभाषी साधुओं ने

हिन्दी साहित्य में जीवन के चिरन्तन भावों को व्यक्त कर हिन्दू जाति की जीवन-धारा को एक अपूर्व प्रेम-रस से पूर्ण कर रखा। कुछ को छोड़ प्रायः सभी ने जनता की सच्ची भावना को जनता की भाषा में जनता के परितोष के लिये प्रकट किया। उनका ज्ञान सत्य की अनुभूति पर आश्रित था, शास्त्रों के तर्क-पूर्ण विवेचन पर नहीं। उनमें भाव-सौंदर्य जनसमूह के आढम्बर-शून्य अकृत्रिम उल्लास से उद्भूत हुआ था।

(५)

रमेश—पर यह तो आप मानेंगे कि इस नव साहित्य में जो परिवर्तन हुआ है वह आश्चर्यजनक है। क्या भाव, क्या भाषा और क्या शैली; सभी में एक नवीनता आ गई है। नवयुग की भावनाओं ने साहित्य के प्राचीन आदर्शों को स्थानच्युत कर दिया है।

विपिन—हिन्दी साहित्य में यह परिवर्तन आश्चर्यजनक होने पर भी स्वाभाविक है। पर इसमें एक बात ध्यान देने योग्य है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रगति के नाम से जो परिवर्तन हो रहा है, वह केवल कविता और कथा के क्षेत्र में ही हो रहा है। साहित्य के अन्य अंगों में अभी ऐसी प्रगति का कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ता।

रमेश—तो इसका क्या कारण है ?

विपिन—यह तो स्पष्ट है कि भारतवर्ष में स्वाधीनता के लिये जो आंदोलन हो रहा है, उसी के कारण इस प्रगतिशील साहित्य की उन्नति हो रही है। देश में एक ओर राजनैतिक पराधीनता

है और दूसरी ओर अभाव का कष्ट है। वर्तमान स्थिति से सभी के हृदय में एक असंतोष की तीव्र भावना जागृत हो गई है। सर्वत्र एक बाधा का अनुभव कर तरुणों में विद्रोह की भावना प्रबल हो उठी है। तारुण्य के उद्दाम भाव की अभिव्यक्ति के लिये काव्य और उपन्यास ही एकमात्र साधन हैं। इसीलिये काव्यों और उपन्यासों में ही यह क्रान्तिवाद प्रकट हुआ है। जो ज्ञान कठोर साधना का फल होता है वह इस तरुण साहित्य में प्रकट नहीं हुआ है।

(६)

रमेश ने कहा—हिन्दी के इस नवीन साहित्य के द्वारा जिन आदर्शों का प्रचार हो रहा है, उनसे यह स्पष्ट लक्षित होता है कि जाति में नव-जीवन आ गया है। क्या आप यह नहीं समझते कि इससे जाति नवशक्ति संचित करेगी ?

विपिन—इस संबंध में मेरी राय कुछ और ही है। हिन्दी साहित्य में यह नवयुग पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता के प्रचार से ही आया है। आज धर्म, समाज और साहित्य में जो क्रांति हो रही है, उसका मूल पाश्चात्य सभ्यता में है। भारतवर्ष ने पाश्चात्य सभ्यता से अभी तक जो कुछ भी पाया है, उसका दासत्व स्वीकार कर ही उसने पाया है। सच तो यह है कि इसी शिक्षा के कारण हमें अपनी भाषा और नीति, अपने समाज और साहित्य से भी विरक्ति होने लगी है। अपने भीतर हमने एक ऐसी दीनता का अनुभव किया कि बाहर से हम सब कुछ ग्रहण

करने के लिये उत्सुक हो गये । ऐसी स्थिति में मैं यह समझता हूँ कि हिन्दी का यह नवसाहित्य जातीय अभ्युदय का सूचक नहीं है ।

रमेश ने कहा—अन्य सभी देशों ने नवयुग के इन आदर्शों को स्वीकार किया है । जापान ने पाश्चात्य सभ्यता को अपना कर अपनी औद्योगिक उन्नति के साथ शक्ति की भी इतनी वृद्धि कर ली कि वह एक प्रबल राष्ट्र में परिणत हो गया । टर्की ने भी पाश्चात्य आदर्श पर अपना नव-संगठन कर नवजीवन प्राप्त कर लिया है । अफगानिस्तान के पार्श्वत्य प्रदेश में भी उसका प्रभाव पड़ा है । वृद्ध चीन ने भी उसको ग्रहण कर लिया है । तब एकमात्र भारत के ही लिये वह कैसे घातक हुआ ?

विपिन—ये सभी स्वाधीन देश हैं; इसीलिये इन्होंने विजातीय आदर्श को अपनी इच्छा के अनुकूल बनाकर उनको अपना लिया है । स्वाधीन जाति में इतनी शक्ति रहती है कि वह विजातीय आदर्शों को अपना सकती है । मध्य युग में भारतीयों ने इस्लाम सभ्यता को अपना लेने में इतनी सफलता प्राप्त की कि धर्म और भाषा का व्यवधान रहने पर भी साहित्य और कला के क्षेत्र में उन दोनों का सम्मिलन हो गया । उस सम्मिलन के कारण भारतीय कला और साहित्य की जो उन्नति हुई वह अपूर्व थी ।

रमेश—तब इस क्रांति के सम्बन्ध में आपका क्या विचार है ?

विपिन—फ्रांस की क्रांति फ्रांस के मौलिक साहित्य का परिणाम है । रूस की क्रांति रूस की साधना का फल है । पर आज हम जिस क्रांति के लक्षण भारतवर्ष में देख रहे हैं, वह क्या

भारतीय चिन्तन का फल है ? यह बात नहीं है कि भारतवर्ष में पहले कभी धार्मिक या सामाजिक क्रांति नहीं हुई । बुद्धदेव ने भारतवर्ष में क्या क्रांति पैदा नहीं कर दी थी ? शंकराचार्य जी के कारण क्या हिन्दू-समाज का नव-संगठन नहीं हुआ था ? और दूर की बात जाने दो, एक जुलाहे ने स्याही, कलम और कागज तक न छूकर हिन्दू और मुसलमान दोनों को किस मंत्र से एक कर दिया था ? उसकी वाणी में यह शक्ति आई कहाँ से ? इसी प्रकार किस आदर्श की प्रेरणा से शिवाजी और गुरु गोविन्द ने एक निर्बल जाति में प्रचण्ड शक्ति भर दी थी ? सच्ची बात तो यह है कि जाति को संगठित करने के लिये उसी स्वभाव के अनुकूल नव आदर्श निर्मित करने से उसमें नव-शक्ति आती है । पाश्चात्य सभ्यता को जब तक हम भारतीय न बना लेंगे, तब तक उसे ग्रहण करने से हमारा कल्याण नहीं हो सकता । भारतीय आदर्शों को कुसंस्कार का फल कहकर उनके विनाश पर आज हम जो इस नव-साहित्य में उल्लास प्रकट कर रहे हैं वह हमारे लिये घातक है ।

पाँचवाँ अध्याय

(१)

आज वह अन्यमनस्क था । वह सोच रहा था कि वह आदरणीय भले ही न हो, पर क्या वह किसी की सहानुभूति का पात्र भी नहीं हो सकता ? यह सच है कि उसमें कितने ही दोष हैं, पर उसने सचे भाव से दूसरों की सेवा भी की है । किसी के

साथ कपट का व्यवहार नहीं किया है। किसी की बुराई नहीं की है। वह सदा अपनी हीनता को स्वीकार करता आया है। कुछ लोगों से वह स्नेहपूर्ण, आदरपूर्ण और दयापूर्ण व्यवहार की भी आशा रखता है। उसे यह अब स्पष्ट लक्षित होने लगा है कि ऐसे लोग भी जिनके प्रति उसका स्नेह और सद्भाव है, जिनकी उसने सेवा की है, उसके प्रति अबज्ञा का ही भाव रखते हैं। शक्ति के साथ वह अपनी प्रतिष्ठा भी खो चुका है। अभी तक जो-जो उसके स्नेहपात्र रहे, वे सभी स्वार्थों के संघर्ष से उससे पृथक् हो गये। उसके लिये समय विपरीत-सा हो गया है, इसीसे अब वह किसी की सहानुभूति और स्नेह खोज रहा है। जीवन के सन्ध्याकाल में स्नेहपूर्ण प्रदीप से ही नैराश्य का तम नष्ट होता है। उसने सोचा कि अब उसे सफलता नहीं मिलेगी। अब वह अपने परिश्रम से किसी को भी संतुष्ट नहीं कर सकेगा। उसी समय विमला ने कमरे के भीतर आकर कहा—मास्टर साहब, यह आपसे कुछ प्रश्न पूछने आई है। आप इसे समझा देंगे ?

मास्टर साहब ने देखा कि विमला के साथ जो लड़की आई है उसके चेहरे में अपूर्व दीप्ति है। मास्टर साहब ने क्षण भर उसकी ओर देखकर कहा—पूछो।

उसने काँपते हुए हाथों से अपनी किताब खोली और रहीम, गिरधर और तुलसीदास की कविताओं में से कितने ही स्थलों का अर्थ पूछा। मास्टर साहब ने समझा दिया, पर उसे ऐसा जान पड़ा कि वह शायद कुछ समझ नहीं सकी। वह कुछ

घबड़ाई-सी, कुछ डरी-सी, सहमी खड़ी-खड़ी सुन रही थी। जब वह जाने लगी तब मास्टर साहब ने पूछा—‘तुम कौन हो ?’ उसने कहा—‘मैं शशि हूँ।’

मास्टर साहब सोचने लगे—जीवन के संघाकाल में जब उनका भविष्य अन्धकारमय होता जा रहा है, तब यही क्या शशि बनकर आई है ?

(२)

उसने कहा—आज मैं यह सोच रही थी कि मुझे क्या करना चाहिये।

मास्टर साहब ने कहा—तो तुमने क्या सोचा ?

उसने कहा—जब मैं छोटी थी, तब मुझे कुछ नहीं सूझता था। मेरा मन पढ़ने में भी नहीं लगता था, पर मैं जब से बड़ी हो गई हूँ तब से मैं खूब पढ़ने लगी हूँ। जी चाहता है अब मैं अपने ज्ञान का खूब विकास करूँ, यह क्या सरस्वती देवी की प्रेरणा नहीं है ?

मास्टर साहब—यह सरस्वती देवी की प्रेरणा होनी ही चाहिये, पर तुमने अपने भविष्य जीवन का आदर्श तो नहीं बतलाया।

उसने कहा—वही बतला रही थी। जब से मैं पढ़ने लगी हूँ तब से मेरे मन में कितनी ही बातें आती हैं, पर सब पल भर में हवा बन कर उड़ जाती हैं।

मास्टर साहब—यह तो बड़ी मुश्किल की बात है।

उसने कहा—जब आप पढ़ाते रहते हैं तब मेरे मन में न मालूम कितनी भावनाएँ आती हैं, कितनी तरंगें उठती हैं। मैं यही सोचती रहती हूँ कि मेरे इन गुरुजनों की शिक्षा का कुछ अंश तो मेरे हृदय में रह जाय, मुझे भी कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाय। तब—

मास्टर साहब—हाँ, तब ?

उसने कहा—तब मैं भी साहित्य-सेवा करती, समाज सेवा करती।

(३)

उसने कहा—जब मैं यहाँ पहले आई, तब मुझे यहाँ कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। मुझे बार-बार अपने गाँव की याद आती थी।

मास्टर साहब—क्या तुम्हारा गाँव इतना अच्छा है ?

उसने कहा—मेरा गाँव है तो छोटा, पर बड़ा रमणीक है। उसके चारों ओर पहाड़ और जंगल है। पास ही महानदी बहती है, चारों ओर तालाब है। कितना सुन्दर है मेरा गाँव ! अब आपको क्या बताऊँ, वर्षा ऋतु में रिमझिम-रिमझिम पानी गिरता है, खेतों में धान के छोटे-छोटे पौधे मिट्टी से निकलकर बच्चों की तरह मुस्कराते हैं, हवा उनसे अठखेलियाँ करती है, उन पर पानी की छोटी-छोटी बूँदें सूर्य के प्रकाश में ऐसी चमकती हैं कि मानों मोती हों। यहाँ वह सौंदर्य कहाँ है !

मास्टर साहब—यह भी तो एक गाँव ही है।

उसने कहा—पर यहाँ बह स्वच्छन्दता कहाँ ? वहाँ हमें कितनी स्वतंत्रता से खेलने-कूदने और उत्पात तक करने को मिलता था । यहाँ तो कुछ नहीं है । अगर घास पर जाकर बैठो तो तुरन्त चारों ओर से आवाज आने लगती है—कपड़े खराब हो जायेंगे । वहाँ न कपड़ों की फिक्र थी, और न खराब होने का डर था । वहाँ मुझसे बड़ा मेरा कपड़ा नहीं था ।

(४)

उसने कहा—मास्टर साहब, संसार में सदाचार की बड़ी महिमा है ।

मास्टर साहब—सच्ची बात तो है ।

उसने कहा—सदाचारी को सत्यवादी, धर्मपरायण और निश्छल होना चाहिये । तभी वह संतोष और सुख पा सकता है । जो मनुष्य सदाचारी नहीं है, उसपर कोई विश्वास नहीं करता, ऐसे मनुष्य अपनी क्या उन्नति कर सकते हैं ?

मास्टर साहब—वे कुछ भी नहीं कर सकते, पर आज सदाचार की महिमा का वर्णन क्यों हो रहा है ?

उसने कहा—बात यह है कि मनुष्यों को कपट नहीं करना चाहिये । मैंने देखा है कि स्कूल के कुछ लड़कों से यदि कोई किताब या कापी माँगी जाय, तो वे साफ कह देते हैं कि हमारे पास नहीं है । वे शायद यह सोचते हैं कि कहीं उनकी किताबें पढ़कर कोई दूसरा होशियार न हो जाय । किताब देने से भला क्या नुकसान है ?

मास्टर साहब—कुछ नुकसान नहीं है, पर क्या लड़के ही ऐसा करते हैं, लड़कियाँ नहीं करती ?

उसने कहा—ऐसी आदत कई लड़कियों में भी रहती है और वह बुरी आदत है। उनको यदि बतलाया भी जाय कि भाई ऐसा मत करो यह दुर्गुण है, तो वे कहते हैं कि हमें तो आदत ही पड़ गई है। वे यह नहीं सोचते कि मनुष्य ही अपने भाग्य का विधाता है। ठीक तो कह रही हूँ न ?

मास्टर साहब—बिल्कुल ठीक।

(५)

उसने कहा—माँ के स्नेह के बराबर कोई दूसरा सुख नहीं है।

मास्टर साहब—इसमें क्या संदेह है।

उसने कहा—जब मैं छोटी थी, तब मैंने माँ को खूब तकलीफें दी थीं। खैर उस समय तो मैं छोटी थी, अब तो बड़ी हो गयी हूँ। पर अब भी मेरे हाथ से कोई भूल हो ही जाती है, फिर भी माँ कहती है कि तू अभी छोटी है, तुझसे गलती होनी ही चाहिये। उसकी आँखों में अभी तक मैं छोटी ही हूँ। पर क्या मैं छोटी हूँ ?

मास्टर साहब—अब तुम्हें 'छोटी हो' कहने का साहस कोई नहीं कर सकता। अब तुम नर्वी क्लास में आ गई हो।

उसने कहा—यही तो मैं कह रही हूँ। माँ मेरी किसी भी त्रुटि पर ध्यान नहीं देती। जब कोई दूसरा मुझे कहता है कि तुम पढ़ने में बहुत कमजोर हो, तब मुझे माँ का ख्याल आ जाता है।

माँ जब मुझे पढ़ाती थी, तब वह कभी नाराज नहीं होती थी ।
मास्टर लोग ही क्यों नाराज होते हैं ?

मास्टर साहब—मास्टरों में माता की ममता कहाँ ? उनमें वह गुण कहाँ ?

उसने कहा—सचमुच मेरी माँ शांति की मूर्ति है और आनंद की प्रतिमा । जब छुट्टियों के दिन खतम होते हैं, तब उसे छोड़ते समय मुझे रोना आ जाता है । पर क्या करूँ पढ़ने के लिये यह सब करना ही पड़ता है ।

(६)

उसने कहा—मुझे तो मैट्रिक के आगे पढ़ने का मौका ही न दिया जायगा । पर मेरी तो यह इच्छा है कि मैं खूब शिक्षा प्राप्त कर लूँ । यहाँ तो ज्योंही किसी को कहो कि हम कुछ पढ़ेंगे, त्योंही वे कहते हैं कि पढ़कर क्या करोगी ? तुम तो लड़की हो, क्या नौकरी करने जाओगी ?

मास्टर साहब—बात यह है कि हम लोग पढ़-लिखकर नौकरी ही तो करते हैं । उसी के योग्य हैं भी हम । दासत्व के अतिरिक्त हम लोगों के लिये दूसरा कोई उपाय ही नहीं है । इसीसे हम लोगों ने यह समझ रखा है कि पढ़ने-लिखने का मतलब नौकरी कर पेट भरना है ।

उसने कहा—पर यह तो ठीक नहीं है । शिक्षा का उद्देश्य तो मानसिक शक्ति का विकास है, उससे तो मनुष्य उदार और उन्नत होता है ।

मास्टर साहब—यदि यही बात होती, तो हम लोगों की यह दशा क्यों होती !

(७)

उसने कहा—मेरे घर के पास एक खी रहती है। वह बेचारी खूब बूढ़ी हो गई है। वह दिनभर काम करती है। रात में बड़ी देर के बाद वह सोने को जाती है। लेकिन वह कर ही क्या सकती है ! काम न करेगी, तो खायगी क्या ? पर अचरज की बात यह है कि मैं होती तो शायद सुबह खाट से उठ भी न सकती ।

मास्टर साहब—शायद तुम उठ भी सकती। कौन जाने ? शायद ही की तो बात है ।

उसने कहा—शायद की क्या बात, मैं तो अभी छोटी ही हूँ, उसके समान बूढ़ी नहीं हूँ। फिर भी घर में कोई काम बतलाये जाने पर बहाना कर भाग जाती हूँ ।

मास्टर साहब—पर वह भी कभी लड़की रही होगी। माँ के कहने पर वह भी कभी काम डालकर भाग जाती रही होगी और सड़क पर दूसरी लड़कियों के साथ खेलती रही होगी। उस समय उसने स्वप्न में यह नहीं सोचा होगा कि कभी वृद्धावस्था में शरीर क्षीण हो जाने पर उसे भी कामों में लगे रहना पड़ेगा। यह तो समय की गति है ।

उसने कहा—सचमुच समय की कैसी विचित्र गति है ? चार साल पहले क्या सोचती थी और अब क्या सोचती हूँ !

मास्टर साहब—मैं भी तो सुन लूँ कि तुम पहले क्या सोचती थी और अब क्या सोचती हो ।

उसने कहा—जब मैं तीसरी कक्षा में पढ़ती थी, तब विज्ञान के चमत्कार पढ़कर मैंने यह सोचा कि मैं विज्ञान का खूब अध्ययन करूँगी । पर मैं पाँचवीं में आई, तब मैं विज्ञान को छोड़कर संस्कृत पढ़ने लगी । मैं पहले समझती थी कि मैं खूब पढ़कर परीक्षा में खूब नम्बर पाऊँगी । पर अब तो मैं यह सोचने लगती हूँ कि पढ़ना मेरे लिये व्यर्थ है । मैं अपनी बुद्धि से तंग आ गई हूँ । सभी एक से एक आशा लगाए बैठे हैं ।

मास्टर साहब—जैसे मैं ?

उसने कहा—पर यह सच है कि मैं किसी की भी आशा पूर्ण न कर सकूँगी । आखिर मुझे पढ़कर करना ही क्या है ? क्या नौकरी करनी है ? चाहे यह अर्जुन के समान मेरा क्षणिक आवेग ही क्यों न हो, पर मेरे भी मन में अब यह विद्यालय रूपी रणक्षेत्र छोड़ने का विचार आ रहा है । क्या मेरा यह सोचना ठीक नहीं है ? जब इतने बड़े ज्ञानी अर्जुन का मन व्याकुल हुआ था, तो मैं फिर क्या हूँ ?

मास्टर साहब—यदि तुम्हें अर्जुन के समान कृष्ण न मिले तो तुम परीक्षा में भी शायद न बैठोगी ।

उसने कहा—मैं भी तो यही सोच रही हूँ । इस पढ़ाई में रखा ही क्या है ? चूल्हे के पास बैठकर मुझे यह देखना है कि

आग से कौन सी गैस निकलती है या मुझे रोटियों पर कौन सी जामेदारी की आकृति निकालनी है।

(८)

उसने कहा—मास्टर साहब, यदि कोई अपराध करे और उसका फल किसी अन्य को सहना पड़े तो अपराधी का क्या कर्तव्य है ?

मास्टर साहब—वह अपना अपराध स्वीकार कर उस दंड को स्वयं ले ले। पर बात क्या है, मैं भी तो सुन लूँ।

उसने कहा—बात यह है कि अजू के साथ मैं खेल रही थी। मुझको उसे चिढ़ाने की सूझी। वह सोकर उठा था, वह खूब चिढ़ गया और उसने जोर-जोर से चिल्लाना शुरू किया। माँ काम में व्यस्त थीं। वे खूब नाराज हो गईं। उन्होंने अजू के हाथ पकड़कर और डाँटकर कहा—बोलो, अब तुम बड़ों को गाली दोगे, झगड़ा करोगे ? अजू की आँखों में आँसू छलछला आये। उसका कुछ भी दोष नहीं था। फिर भी अपना ही दोष समझ कर उसने सिर हिलाकर कहा—नहीं। मैं चुपचाप देख रही थी। माँ की डाँट के डर से मैं कुछ न बोल सकी। इसके बाद अजू मेरे पास आया। माँ ने उसे नमस्कार करने को भेजा था, क्योंकि माँ ने यह समझा था कि अजू ने मुझे गाली दी है और मेरे डाँटने पर वह रोने लगा है। जब अजू ने आकर अपना सिर मेरे पैरों पर रखा, तब उसकी आँखों से आँसू की दो बूँदें मेरे पैरों पर गिर गयीं। मैंने उसे तुरंत गोद में उठा लिया और कहानी कह कर

उसका मन बहला दिया । वह भी उस बात को क्षण भर में ही भूल गया, पर मेरे लिये यह भूल जाना असंभव है ।

(९)

उसने कहा—आज जब मैं घूमने गई थी, तब चारों ओर प्रकृति का सुन्दर दृश्य देखकर मुझे ऐसा मालूम होने लगा मानों मैं स्वर्ग के नन्दन-कानन में आ गयी हूँ । सभी ओर आनन्द का राज्य था । इतना सुन्दर दृश्य देखकर किसका मन प्रसन्न नहीं होगा ? आप भी तो उधर ही गये थे । आपने भी देखा होगा, कितना अद्भुत और मनोरम दृश्य था !

मास्टर साहब—मुझमें और तुममें अवस्था का जो वैपरीत्य है इसके कारण मेरी और तुम्हारी दृष्टि में भी बड़ा भेद है । हम लोग तो अपनी-अपनी दृष्टि से ही संसार को देख सकते हैं । जब तुम प्रकृति के संध्याकालीन सौंदर्य का उपभोग कर रही थी, तब मैं अपने ही घर की चिन्ता में डूबा हुआ था । मुझे तो इतना अवकाश भी नहीं था कि मैं सूर्यास्त की शोभा देख सकता ।

उसने कहा—पर आप इतने चिन्तित क्यों रहते हैं ?

मास्टर साहब—क्योंकि इसी में अब मेरे जीवन की सार्थकता है ।

(१०)

उसने कहा—आपको मेरे पेपर्स देखकर बड़ा दुःख हुआ होगा । आपको बुरा लगना स्वाभाविक है; क्योंकि आपने मेरे लिये तकलीफ उठाई है । उस दिन आपने मुझसे पूछा—अब तो

अच्छे नम्बर पायेगी ? तब मुझे आशा न रहने पर भी 'नहीं' कहने का साहस नहीं हुआ । किस मुँह मैं आपको नहीं कहती ।

मास्टर साहब—मुझे खराब तो अवश्य लगा पर—

उसने कहा—इसमें 'पर' और 'किन्तु' लगाकर आप मेरा दोष कम मत कीजिये । मैं जानती हूँ कि यदि मैं पहले की शशि होती, तो आपके परिश्रम से सचमुच लाभ उठाती ।

मास्टर साहब—और अब ?

उसने कहा—अब मुझे ऐसा जान पड़ता है कि स्कालर्शिप लेकर मैं बहूरानी की आँखों में धूल झोंक रही हूँ ।

मास्टर साहब—तुम विशेष क्षुब्ध हो गयी हो ?

उसने कहा—क्षुब्ध ? आप असिता से पूछ सकते हैं कि जब आपने मुझे पेपर्स लौटाये तब मेरा मुँह कैसा हो गया था । लड़के सामने थे और आप भी सामने थे । बड़ी मुश्किल से मैंने अपने छलकते हुए आँसुओं को भीतर रोक दिया ।

मास्टर साहब—मैं तुम्हारे लिये अवश्य गर्व कर चुका हूँ और तुमसे मैं बड़ी आशा भी रखता हूँ । मैं जानता था कि तुम्हें अपने पेपर देखके दुख होगा । मैं तुम्हारे मन की अवस्था भी उसी समय समझ गया । फिर भी मैं कहता हूँ कि तुम जरा भी दुखित मत हो, उदास मत हो । भगवान ने तुम्हें जो अंतर्ज्योति दी है, उसकी परीक्षा किसी भी मास्टर के पेपर से नहीं हो सकती ।

(३१९)

(११)

उसने कहा—मास्टर साहब, अब मैं परीक्षा देने जा रही हूँ। मैं आपका आशीर्वाद चाहती हूँ।

मास्टर साहब—कि मैं पास हो जाऊँ ?

उसने कहा—नहीं, मैं पास हो जाऊँ।

मास्टर साहब—वही तो मैं भी कह रहा हूँ। तुम पास होगी तभी तो मैं पास होऊँगा। तुम्हारे पास होने में ही मेरी सफलता है। इसलिये मेरे हृदय की सच्ची कामना यह है कि तुम पास हो जाओ।

उसने कहा—मास्टर साहब, मैंने आपके कथन की कई बार अवलोकना की, मैंने आपका काम भी कई बार टाला, अब नहीं पढ़ती कहकर आपके क्लास में भी नहीं गई, पर आप कभी नाराज नहीं हुए। आज स्कूल छोड़ते समय मुझे घबराहट सी लग रही है। दुख भी हो रहा है। मेरा स्थान दूसरों ने ले लिया। अब आप शायद मुझे भूल भी जावेंगे !

मास्टर साहब—भूलना पड़ता ही है शशि ! काल के पास वेदना की जो सबसे बड़ी औषधि है वह विस्मृति ही है। तुम क्षण भर रुको। मैं यह लेख समाप्त कर लूँ, तब तुम मेरा आशीर्वाद लेकर जाना।

उसने कहा—आपके हाथ खूब काँप रहे हैं, लाइये, आपके बदले मैं लिख दूँ।

मास्टर साहब—तुम लिखोगी ? बही करो । मेरी तो अब शक्ति ही क्षीण हो गई है । मेरी बात को अब तुम लिखो, मेरे भाव को अब तुम व्यक्त करो, मेरी वाणी अब तुम्हारी वाणी में लीन हो जाय ।
